स्वामी ओंकार सच्चिदानन्दजी
ओरसे भेंट

प्रकाशक की भूमिका।

स्वामी सत्य प्रकाश जी एक त्यागी संन्यासी हैं। इन्होंने सन्ध्या की अच्छी टीका की है और अनुभूत सन्ध्या विधि का भी उसमें उल्लेख किया। यह पुस्तक उससे आगे की है। पुस्तक के पाठ से स्वाध्याय शील सज्जन तो लाभ उठा ही सकते हैं। परन्तु उससे भी अधिक लाभ कर्म निष्ठ सज्जन उठावेंगे।

पुस्तक की उपयोगिता को ही लक्ष्य में रखकर शताब्दी सभा की ओर से यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है। पुस्तक बहुत देर से प्राप्त हुई थी इस लिये संभव है कि इसमें कुछ त्रुटियां शीघ्रता के साथ छपाने आदि के कारण रह गई हों। विद्वान् पाठक उन्हें स्वयं सुधार लें, और पुस्तक से जितना लाभ उठाया जा सकता है उसके उठाने का यत्न करें। स्वामी सत्यप्रकाश जी ने जिस परिश्रम से पुस्तक लिखा है उसके लिये वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

शताब्दी कार्यालय मथुरा,
माघकृष्ण १२
संवत १९८१ वै०।

नारायण स्वामी

ओ३म्

॥ अथ भूमिका विषयानुक्रमणिका ॥

विषय	पृष्ठ
१—मुक्ति से लौटने का कारण ।	१
२—मनुष्य जीवन के द्वि उद्देश्य	१
३—सर्व जड़ पदार्थ स्वरूपतः विकारी परिणामी हैं	२
४—जीव अवस्था परिणामी हैं ।	२
५—मातादि सम्बन्धी सब सद्वन्द्व हैं ।	३
६—शरीर से लेकर प्रकृति यावत् सब पदार्थ सद्वन्द्व हैं ।	४
७—जीव सद्वन्द्व हैं ।	५
८—जड़ों की उपासना से सर्व नाश जीवों की उपासना से बन्धन ।	६
९—केवल ब्रह्म पदार्थ उपास्य है ।	६
१०—द्विज, ब्राह्मण; आर्य, शूद्र और संन्यासो के लक्षण	७
११—चार प्रकार के सिद्धान्ती जन ।	८
१२—आर्यत्व के कुछ हेतु ।	९
१३—धर्म पुस्तकों का पौरुषेयत्वापौरुषेयत्व ।	१०
१४—वेदों को पौरुषेय मानने के हेय कारण ।	११
१५—वेद ईश्वरीय ज्ञान एवं विश्वास के उपादेय साधन	१३
१६—नानेश्वर वाद का कारण ओ३म् पारत्यस्य अनूरी	१४

विषय	पृष्ठ
१७—प्रथम १५ ईश्वर अन्यथेश्वर हैं।	१४
१८—सोलहवां वास्तविक ईश्वर है।	३१
१९—वेद विषयक शङ्का समाधान।	३२
२०—मर्यादा देवोत्तम ऋषि दयानन्द शिक्षित सिद्धान्त की सर्वोच्चा वैदिकता।	३२
२१—ईश्वर प्रार्थना की आवश्यकता।	३४
२२—आर्य एक पादत्व एवं कुपथ्य अत्याग।	३५
२३—ओ३म् प्रत्यक्ष अस्वीकृति सर्वभ्रमों की जननी है	३५
२४ मत भेदों से हानि।	३६
२५—ओ३म् प्रत्यक्ष उररी फल।	३६
२६—ओ३म् प्रत्यक्ष विषयक शङ्का समाधान।	३८

समर्पण

२७—'मधुमन्मे, मुक्त पुनरावृतस्य वेदाध्ययन।	१
२८—नमो ब्रह्मणे, ईश्वर प्रत्यक्ष।	१
२९—द्वि प्रकार पदार्थ।	१
३०—प्रत्यक्ष के चार भेद।	१
३१—अविद्या का फल।	२
३२—सूर्य और ओ३म् की दार्शनिक अपेक्षा।	४
३३—प्रकृति के नाम और कार्य।	५

विषय	पृष्ठ
३४—कार्य से कारण का ज्ञान, जीव ब्रह्म और प्रकृति के भेद।	५
३५—प्रत्यक्ष प्रमाण से पदार्थ सिद्धि और तीन प्रकार के साकार पदार्थ	७
३६—परमाणुओं का निरवयवत्व।	९
३७—जीवात्मा का कर्तृत्व निर्णय।	१०

जीव प्रकरण

३८—जीवात्मा के १०१ नाम और शक्तियां।	१२
प्रमाण संख्या १-'स्वाङ्कृतो,	१४
३९—जीव स्वयम्भू ज्योति दिव्य शक्तियुत सर्वोत्तमा सम्पत्ति प्र० २-'अजो अग्नि'	१५
४०—अजन्मा ज्योति स्वाभाविक गतियुत देह नेता आदि। प्र० सं० ३-"वायुरनिल"	१६
४१—अमर, शरीर वासी' प्र० ४ "नूचित्सहोजा"	१७
४२—चेतन प्रकाशवान् अजर अमर दुःखी सुखी. कर्त्ता भोक्ता जड़ शरीर साधन युत। प्र० सं० ५ "इन्द्र नेदीय"	१८
४३—अल्पज्ञ। प्र० सं० ६-"बालादेक"	१८
४४—तीन अनादि पदार्थों में जीव मध्यम कोटि की वस्तु	

विषय पृष्ठ

निराकार अनिश्चित परिमाण वाला। प्र० सं० ७-'प्रथमेन प्रमारेण" २०

४५—बद्ध मुक्त तीन योनियों का धर्त्ता, त्रिप्रकार कर्म कर्त्ता। प्रमाण सं०८"आत्मानंते" २१

४६—आत्म परमात्म स्वरूप दर्शक, सूर्यादि लोक गन्ता आदि। प्र० ६ "अग्निर्जागार" २२

४७—नित्य चेतन जागने हारा स्वाभाविक ज्ञान प्रयत्न युत। प्र० १० 'सर्वं तद्र ज्ञा, २३

४८—जीवों की संख्या परमेश्वर को ज्ञात है, जीवों को नहीं प्र० ११-"कोऽदात्। २४

४९—स्वतन्त्र कर्त्ता परतन्त्र भोक्ता। प्र० १२ असुर्या नाम, २५

५०—चार प्रकार के अधम और मध्यम अवतार। प्र० १३ "आदह स्वधाम" २७

५१—पञ्चम उत्तम अवतार, मुक्त जीव का लौटना। प्र० १३-"अति द्रव श्वानौ" २८

५२—निष्काम परोपकार एवं परमात्म दर्शन से मुक्त होने हारा। प्र० १४-"ऋतावानं" २९

५३—सूर्य वत् ईश्वर दर्शी आदि। प्र० १५-"पात्यग्निः" ३०

५४—जीव स्वभाव से चलने वारा दुःखी सुखी, और कर्त्ता, बुद्धि आदि करण हैं। प्र० १६-'एष रुक्मभिः॥ ३२

५५—चेतन अणु परिमाण, प्रकाशस्वरूप, परमात्मा को

विषय पृष्ठ

स्वयं अकरण प्राप्त करने हारा। प्र० १७-"बालाग्र" ३२

५६—नित्य जीव परिमाण की कल्पना। प्र० १८-' आवां रथो, ३३

५७—जीव कर्त्ता रथी, मन से जवीयतर। प्र० १९-'को वो अन्तर, ३४

५८—जीव १९ करण चालक, पवित्र और जड़ों से सर्वोत्तम प्र० २० 'इदमुत्यन्महि, ३५

५९—अल्प यत्न अत्यन्त गतिमान् प्रकाश स्वरूपदर्शनादि का कर्त्ता॥ प्र० २१ 'आस्वग्न, ३६

६०—विद्युत् सम गर्जने वाला ३ देह घोड़ा। श्रवण दर्शनादि अकरण स्वतन्त्र कर्त्ता परतन्त्र भोक्ता। प्र० २२ परीत्य भूतानां, ३७

६१—विवेक से मुक्त अविवेक से बद्ध होने हारा। प्र० २३ ऋचो अक्षरे। ३८

६२—योगी को वेदेश्वर विषयक भ्रमदूरी से मुक्ति मिलती है। अयोगी वेदाध्येता को नहि। प्र० २४ "क्रारण रुद्रेभिः" ४१

६३—अमर, नाशवान देह का रथा, येनिं उचित भोगेच्छू एवं भिन्न २ स्वभाव युत। प्र० २५ विवात जूत, ४२

६४—सत्य स्वरूप एवं कुटस्थ प्रकाश मान तृणादि देहों में बहुवासी अविवेक से जड़ अभिमानी। प्र० २६

विषय	पृष्ठ
इदंतएकं ॥	४३
६५—बद्ध जीव करण और कार्य्य दो धामों में रहते हैं। मुक्त तीसरे धाम ब्रह्म मात्र में रहते हैं। प्र० २७ "त्वमग्ने प्रथमो„	४१
६६—प्रलय रात्रि में बद्ध, जीव सुषुप्त रहते हैं। प्र० २८ "यत्रानुकाम"	४६
६७—प्रकृति की छाया से भी मुक्त होकर स्वेच्छानुसार विचरने वाला प्र० २६ "दधुष्ट्वा„ भृगवो	४७
६८—जीव द्रष्टा, स्वरूप दर्शक, मनोहर स्वरूप क्रिया शील सुषुप्ति में अकरण कर्त्ता आदि प्र० ३० "अछेद्रा सूनो।"	४८
६९—ज्योति स्वरूप, नित्य पराक्रम शाली अनेक बल प्रापक प्र० ३१ "तवुर्जन्नो"	४९
७०—इच्छा द्वेषादि युत, सर्व क्रियाओं का अकरण कर्त्ता प्र० ३२ "येसमाना"	५१
७१—जीव अनेकता, प्र० ३३ अपादग्रे।	५१
७२—जीव चार प्रकार की उत्पत्तिवारे प्र० ३४ कस्पनूनं।	५२
७३—प्रथम पुरुष गर्भवान् होता है तदनु स्त्री प्र० ३५ "मोवाच्चमतुः"	५२
७४—मुक्त पुनरावर्त्तों का ईश्वर से वेद पढ़ना प्र० ३६ गर्भनु सन्नन्वेषा।	५३

विषय	पृष्ठ
७५—गर्भ में सर्व योनि ज्ञाता प्र० ३७ एषोरणु।	५४
७६—आत्मा अणु आदि प्र० ३८ एतत् प्राणन्।	५४
७७—शरीर में भ्रमण करने हारा प्र० ३० सवा एष।	५५
७८—प्रायः हृदय वासी प्र० ४० उत्क्रान्ति।	५५
७९—क्रिया शील प्र० ४१ व्यवस्थातो।	५५
८०—जीव अनेकता प्र० ४२ एषहिद्रष्टा।	५५
८१—प्रष्टा बोद्धाहि जीव है प्र० ४३ आत्म कर्मसु।	५५
८२—आत्म कर्म से मुक्ति याता प्र० ४४ अत्रैष देवाः।	५६
८३—स्वप्न द्रष्टा प्र० ४५ सपदा तेजस्व।	५६
८४—सुषुप्त प्र० ४६ आत्मानं रथिनं।	५७
८५—आत्मा रथी, शरीर रथ आदि प्र० ४७ आवाँरथो रोदसी।	५७
८६—जीव रथी देह रथ आदि	५९

अथ प्रमाण फलानि।

८७—जीवों का नित्यत्व निश्चय करण।	५९
८८—चेतनत्व विशदी करण।	६०
८९—स्वाभाविक चलनत्व अवबोधन।	६२
९०—स्वाभाविक अल्प ज्ञान एवं शक्ति युक्तत्व निर्णय।	६३
९१—जीव प्रकाश स्वरूपत्व संसाधन।	७१
९२—जीवद्रष्टत्व दर्शकत्व प्रदर्शन।	७२

विषय	पृष्ठ
९३—अकरण कर्तृत्व विचार सनिर्णय प्र० ४२ उन्मदितो।	७९
९४—योग में स्वस्वरुप स्थिति परमात्म दर्शन मोक्ष में कारणादि त्रिदेह नितरां वियोग। प्र० ४९ गताकला ५० कस्य नूनं	८१
९५—मोक्ष में स्थूल सूक्ष्म और कारण देहों का पार्थक्य प्र० ५१—५३+अभावं-भावं-द्वादशाहि	८२
९६—मुक्ति से प्राकृत पदार्थों का अभाव और स्व शक्तियों का भाव रहता है, प्र० ५४ सनोबन्धु।	८२
९७—मोक्षधाम में आनन्द भोगते हुए स्वतन्त्र विचरना प्र० ५५ "इन्द्रियेभ्य"।	८४
९८—परमात्मा से जीवों का स्थूल होना प्र० ५६ "उद्धरेत"	८५
९९—आत्मा से अकरण आत्म परमात्म प्राप्ति।	८५

ब्रह्म पदार्थ

१००—जीव व्युत्पति सार्थी:	
१०१—बृह धातु अर्था:.....एवं ब्रह्म मुख्यार्थ जगदीश्वर।	८६
१०२—ब्रह्म के गौड़ अर्थ:-धन, धान्य-ब्रह्मण्ड, सामान्य ज्ञान, स्रोत्र, वेदमन्त्र, प्रकृति, जल, काल, अथर्व, वेद, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, वैश्य, जीव, वेद ज्ञानी, आदि	८७

विषय	पृष्ठ
प्र० ५७—८७	८७
१०३—मुख्य चेतन ब्रह्म, और गौण जड़ ब्रह्म तथा जड़युत चेतन (शबल) ब्रह्म नाम जीवों का नित्य निरन्तर नितरां नितान्त नैकत्ता, (अनेकत्ता वा भिन्नता)	८९
१०४—ओ३म् अक्षरार्थाः १४२, एवं ओ३म् वाक्यार्थाः १४२+६६=२०८(अथेश्वर नामानि,	९१
प्र० ८८ "सपर्यगात्"	९६
१०५—ईश्वर के सर्व व्यापक आदि ३६ नाम	९८
प्र० ८९ (न किरिन्द्र)	९९
१०६—ईश्वर के सर्व ऐश्वर्य स्वामी, सर्वाध्यक्ष आदि १० नाम	९९
प्र० ९० अपरिमितं।	९९
१०७—अचल अनादि, अनन्त अमूर्त अप्रतिमा द्रष्टा दर्शनीय द्रश्य आदि १३ नाम प्र० ९१ "यदजः प्रथमं।	१००
१०८—अजन्मा अनवतारी आदि ५ नाम	१००
प्र० ९२ तदेजति तन्नैजति।	१०१
१०९—सर्व चालक अनवतारी आदि १० नाम	१०२
प्र० ९३ वेनस्तत्पश्यति।	१०२
११०—सर्वाधार सृष्टि कर्त्ता-संहर्त्ता ओतं प्रोतं विभू, चेतन प्रत्यक्ष, आदि ९ नाम	१०३
प्र० ९४ हिरण्यगर्भ।	१०४

विषय	पृष्ठ
१११—नित्य जागरूक सर्व स्वामी आदि ६ नाम	१०५
प्र० ६५ तदेवाग्निः ।	१०५
११२—स्वतः प्रत्यक्ष सर्व प्रकाश, दृश्य दर्शक आदि ४० नाम	१०६
प्र० १५ पात्यग्निः	१०७
११३—मेधा स्वरूप आदि ११ नाम	१०७
प्र० ६६ 'तेजोऽसि ।	१०७
११४—अत्यन्त तीक्ष्ण मति, विवेकी स्वरूप, आदि १४ नाम ।	१०८
प्र० ६७ विश्वतश्चक्षु ।	१०८
११५—स्वतन्त्र सर्व शक्तिमान् आदि २५ नाम	११०
प्र० ६८ सत्य चर्त ।	११०
११६—अविकारी अपरिणामी आदि १० नाम	११२
प्र० ६६ "अकामो धीरा" ।	११२
११७—आप्त काम आदि १४ नाम	११३
प्र० १००-" ऐन्द्रस्य कुक्षा"	११३
११८—आनन्द स्वरूप मङ्गल मय दशनाम'	११४
प्र० १०१-"यो जिनाति"	११४
११९—अजेय, अभय असंख्यजेता आदि ७ नाम ।	११४
प्र० १०२-"सोमः पवते"	११५
१२०—सर्वोत्पादक पावक शान्ति स्वरूप ज्ञान दाता ।	११५

विषय	पृष्ठ
प्र० १०३-"किंस्वन्तो राजा"	११६
१२१—सर्व अध्यक्ष निष्पक्ष न्यायी कर्म फल दाता ।	११६
प्र० १०५-"यः प्राणतो"	११६
१२२—सर्व मुक्त और बद्ध जीवों का स्वामी ।	११८
प्र० १०५-"तावानास्य"	११८
१२३—अनवतारी और मोक्षाधिपति ।	११८
प्र० १०६-"त्वां विश्वेअमृतं"	११८
१२४—परमेश्वर पदार्थ,प्रत्यक्ष नित्य मुक्त मुक्ति दाता	११९
प्र० १०७-"रूचिरसि रोचोऽसि"	११९
१२५—प्रियतम प्रीति शिक्षक मैत्री स्वरूप जगन्मित्र ।	१२०
प्र० १०-"सर्वतद्राजा"	१२०
१२६—सर्व दर्शक ।	१२०
प्र० ६ "बालादेक"	१२०
१२७—सर्वालिङ्गक अत्यन्त पतला ।	१२०
प्र० १४-"ऋता वानं विचेतसं"	१२०
१२८—सत्य स्वरूप सर्वज्ञ सर्व प्रकाशक सूर्य सम दर्शनीय ।	१२०
प्र० ५०ं " कस्यनूनं"	१२०
१२९—सौन्दर्य स्वरूप ।	१२०
प्र० १०८-" आशृत् कर्ण"	१२०
१३०—सर्व श्रोतरा सर्वान्तर्यामी प्र० १०९ "त्वमिन्द्र स्त्वं"	१२१

विषय	पृष्ठ
१३१—इन्द्र महेन्द्र लोक प्रजापति द्रष्टा दृश्य दर्शनीय दर्शक ।	१२२
प्र० ११०-"सदसस्पति"	१२२
१३२—न्यायी दण्डदाता आश्चर्य स्वरूप अनूपम् प्रार्थनीय आदि १४ नाम ।	१२३
प्रमाण १११-"प्रजापतिश्चरति"	१२३
१३३—अन्तर्यामी आत्म व्यापी अनुत्पन्न अतएव अजर तारी	१२४
दृश्य प्रत्यक्ष सर्वाधार ।	१२४
प्र० ११२-"त्रीणि पदा"	१२४
१३४—परमेश्वर के अहिंस्य अहिंसक आदि ११ नाम हैं ।	१२५
प्र० ११३-"एष प्रकोशे"	१२५
१३५—आनन्द स्वरूप वेदोपदेशक वेद वक्ता सर्वोत्तम वक्तारूप शासन शास्त्र वेद प्रकाशक	१२७
प्र० ११४-"अग्निना रयि"	१२७
१३६—ऐश्वर्य स्वरूप ऐश्वर्य दाता सर्व पोषक यशस्वरूप यशदाता शोभा स्वरूप शोभा दाता ,	१२७
प्र० ११५-"स्तुष्व वर्ष्मन्"	१२७
१३७—अनन्त बली सर्वत्र समवर्त्ती प्रकाश स्वरूप सर्व प्रकाशक सर्वोत्तम आप्त	१२८
अकरणद्रष्टा दर्शक दर्शनीय जगदतिव्यापक	१२९

विषय	पृष्ठ
प्र० ११६-"इन्द्रःपूर्भिदाति"	१२९
१३८—जड़ ब्रह्म का स्वामी न्यायी स्वयं सर्वथा पूर्ण अन्यों का बर्द्धक दुष्ट घातक आदि १० नाम ।	१३०
प्र० ११७-"नतं विदाथय"	१३०
१३९—सर्वान्तर्यामी जगत् कर्ता आत्म व्यापी ।	१३१
प्र० ११८-"ऋतंचसत्यं"	१३१
१४०—अनन्त ज्ञानी प्रकाश स्वरूप, अनन्त सामर्थ्य युत सर्व सामर्थ्य दाता	१३२
सर्व दाह रु सहिष्णु सहन शक्ति प्रद ।	१३२
प्र० ११९-"उद्वयन्तमसस्परि"	१३२
१४१—प्रकाश एवं ज्ञान स्वरूप नित्य अविद्या रहित सूक्ष्म-तम सर्वोत्तम ज्योति	१३३
नित्य मुक्त मुक्तिदाता उन्नततम, ब्रह्म के प्रति माया अन्धेरी और ब्रह्ममायापेक्ष प्रकाश स्वरूप	१३३
प्र० १२०-"अहमस्मि प्रथमजा"	१३३
१४२—अदानी भक्षक (नाशक) मुक्ति दाता ।	१३४
प्र० १२१-"यस्य क्रतम भजन्त"	३४१
१४३—पापियों का घातक आदि पुण्यात्माओं का बर्द्धक और मुञ्जक ।	१३५
प्र० १२२-"यमस्य लोकादध्या"	१३५
१४४—सर्व नियामक ।	१३६

विषय	पृष्ठ
प्रमाण १२३-"यो अथर्वणं"	१३६
१४५—जगन्मित्र विश्व बन्धु जगत्पिता सर्वाध्यक्ष द्रष्टा अवञ्चक आदि १५ नाम।	१३७
प्र० १२४ "को अस्मिन् रूपं अदधात्।	१३७
१४६—सर्व साधन एवं शक्ति प्रद सर्व प्रवेशक आदि ११ नाम।	१३७
प्र० १२५ "रोहितो द्यावा"	१३८
१४७—सर्वतः नित्य उन्नत उन्नति साधन आदि दाता सूत्रात्माओं का सूत्रात्मा एक अवयव जगदुत्पादक सर्वाधार अजन्मा सर्वोत्तम।	१३९
प्र० १२६ "यः सुन्वन्तमवति।	१४०
१४८—उन्नति स्वरूप सर्वोन्नयिता पराक्रम स्वरूप आदि १० नाम।	१४१
प्र० १४९+१४९ "तच्चक्षुर्देव, चक्षुर्मित्रस्य,.	१७१
१४९—द्रष्टा परमेश्वर।	१७२
प्र० १४९ "यज्ञस्य चक्षुः"	१७२
१५०—जीव द्रष्टा है। प्र० १५०-२ "अथ० १४।१६ आदि"	१७२
१५१—चक्षुःपद वाच्य आत्म दर्शन शक्ति।	१७३
प्र० (१५३-५५) "उद्वयन्तमसस्परिस्वः"	१७५
१५२ ईश्वर दर्शनीय और जीव द्रष्टा।	१७५
प्र० १५६ "भूमिष्ट्वा प्रति"	१७५
१५३...जीवात्मा अकरण कर्त्ता वक्तादि है।	१७६

विषय	पृष्ठ
प्र० १५७ "उषासृज्नत्मन्या"	१७६
१५४—जीव दर्शक ज्ञानी स्वामी, दाता आदातादि।	१७६
प्र० १५८ "वनस्यते अवसृजा"	१७६
१५५—जीवात्मा सर्व क्रियायें करने की शक्ति रखता है।	१७६
प्र० (१५९-६४) अथ० ११।५।१५ आदि	१७६
१५६—साक्षात् जीव आत्मा का कर्तृत्व दिखाया है।	१७७
प्र० १६५ "अस्मै मृत्यु अधि"	१७७
१५७—जीव अकरण स्वतन्त्र क्रिया शक्ति युत है।	१७८
प्र० १५६ "आत्मानं पितर"	१७८
१५८—जीवात्मा स्वयं वक्ता श्रोता द्रष्टा बोद्धा आदि है।	१७८
प्र० (१६७-१७३)	१७८
१५९—जीवात्मा साक्षात् (अकरण) ईश्वर दर्शक एवं प्राप्त कर्त्ता है।। प्र० १७४ "दर्भेण त्वं"	१७८
१६०—जीव निज स्वरूप में ब्रह्म को स्थापित (प्रत्यक्ष) करता है।	१७९
प्रमाण (१७५-१७६) उभा देवा नृचक्षसा "समर्ज जान" "तदा द्रष्टुः"	१८०
१६१—जीवात्मा द्रष्टा है।	१८१
१६२—नेत्रापेक्ष आत्म दर्शन शक्ति असंख्य गुणी विशेष है।	१८१
१६३—जीवात्मा एक परमाणु से अत्यन्त छोटा है।	१८३

विषय	पृष्ठ
१६४—परमाणु से ढक जाने के कारण बाहर को वृत्ति रखते हुए जीव ब्रह्म को नहीं देख सकता।	१८४
१६५—परमाणु जीव और ब्रह्म के समक्ष तम स्वरूप हैं और जीव का प्रकाश भी ब्रह्मापेक्ष मध्यम और ब्रह्म प्रकाश उत्तम है।	१८४
१६६—नेत्रापेक्ष मन से स्पष्टतर एवं सूक्ष्मतर देखा जाता है, और मनापेक्ष बुद्धि से और भी विस्पष्टतर।	१८५
१६७—ओ३म् वाच्य का द्रष्टा, दर्शनीय दृश्य एवं स्वतः प्रत्यक्ष होना पुनः पुनः परिपुष्ट एवं नितरां विस्पष्ट है।	१८५
प्र० १७७ "उत्सूर्यो बृहद्"	१८६
१६८—परमेश्वर नित्य एक रस प्रकाश स्वरूप स्वयं-प्रकाश	१८७
स्वतः प्रत्यक्ष सर्वोत्तम ज्योति है।	१८७
प्र० १७८ "उद्वेति सुभगो,,	१८७
१६९— जगदीश्वर ज्योति स्वरूप सर्वतः सर्वथा दर्शनीय आदि	१८७
प्रमाण १७९ "उद्वेवि प्रसविता"	१८७
१७०—परमेश्वर सर्वोत्पादक, महत्तम सर्वोपरि नियामक सर्वचालक	१८८
ब्रह्म रन्ध्रस्थ द्रष्टा आत्माओं को प्रकाशित रूप से	

विषय	पृष्ठ
प्रत्यक्ष होने हारा है।	१८८
प्र० १८० "आपश्यति प्रतिपश्यति"	१८८
१७१—परमेश्वर प्रत्येक परमाणु एवं प्रत्येक जीव को नित्य एक रस देखता है और सर्व चेतन विवेकियों से देखने (प्रत्यक्ष करने) योग्य है।	१८९
प्र० १८१ "सोमरारन्धि"	१९०
१७२—इन्द्रियों को विषय वत्, ओ३म् पदार्थ आत्म वस्तु को प्रत्यक्ष होता है।	१९०
प्र० १८२ "सस्त्रवांसमिव"	१९०
१७३—जैसे अरणियों (लकड़ियों) के परस्पर मन्थन (रगड़ने) से अग्नि प्रकट होती है ऐसे ही आत्म ज्ञान क्रिया रूपी दो अरणियों के परस्पर संघर्ष नाम योगाभ्यास से ओ३म् प्रत्यक्ष होता है।	१९१
प्रमाण १८३ "अहं मनुरभवं" प्र० १८४ "ब्रह्मादेवानां"	१९१
१७४—परमेश्वर सब का प्रतिमा हैं उसका प्रति कुछ नहीं, धारण स्वरूप.	१९२
धार्मिक सहयोगी, अधार्मिक अबलात् अवरोधी 'आदिकवि।	
प्र० १८४ "अभिप्रिया दिवस्पद"	१९४
१७५—ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रकाश स्वरूप मुक्तिधाम नियामक।	१९५

विषय	पृष्ठ
प्र० (१८६-८८) तव क्रत्व, यत सूर्य, "नतत्रसूर्यो,,	१९६
१७५—सूर्य से अत्यन्त अधिक विस्पष्ट तथा परमात्म स्वरूप दर्शन होता हैं क्योंकि वह सब से अतिशय अधिक प्रकाशमान है ।	१९६
प्र० १८९ "अजोऽयज स्वर्गो"	१९६
१७७—जीवात्मा का नाम लोक (देखने योग्य और देखने वाला) और जगदीश्वर दर्शक है ।	१९७
प्र० १९० "स्कम्भे लोकः,,	१९७
१७८—परमेश्वर कर्त्ता धर्त्ता हर्त्ता आदि सर्व अक्षि वा सर्वाक्ष (व्यापक एवं दर्शक) सर्व पदार्थ इसके प्रति अक्ष्य और वह सबके प्रति अक्ष (प्रत्यक्ष) है ।	१९८
प्र० १९१ "उदुत्यद्दर्शतंवपुः,,	१९८
१७९—परमात्मा का स्वरूप अत्यन्त दर्शनीय और द्रश्य है ।	१९९
प्र० १९२ "यो विद्यात् ब्रह्म प्रत्यक्षम्,, योगी आत्मा ब्रह्म को स्वतः प्रत्यक्ष जाने ॥	१९९
१८०—ब्रह्म साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष है ।	२००
१८१—पुनः निगमन रूप जीव का अकरण द्रष्टापन प्रदर्शित किया गया है ।	२००
१८१—पुनः " " ब्रह्म का साक्षात् द्रश्यत्व (देखने	

विषय	पृष्ठ
योग्य होना) निदर्शित किया गया है ।	२०१
१८३—करणों से ईश्वर दर्शन का निषेध एवं असम्भवता प्रकटी की गई है ।	२०२
१८४—'साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल ओ३म्, अन्य सब कुछ असाक्षात् एवं परतः प्रत्यक्ष है ।	२०३
१८५—शरीर (शव) जड़ है । बोलता (बोलने वाला) आत्म हैं ।	२०५
१८६—मुख से ब्रह्म के बोलने का निषेध । अह ब्रह्मवाद मत में चेतन पदार्थ के ज्ञान का अभाव, जड़ ब्रह्म का अभिमान मात्र है ।	२०६
१८७—प्राण नहीं बोलता यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है ।	२०७
१८८—सूक्ष्म शरीर का कोई अङ्ग नहीं बोलता ।	२०८
१८९—जीवात्मा ही बोलता है ।	२०८
११०—जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूपों के नित्य भेद से अन्य सब भेद नित्य हैं ।	२०९
१९१—जड़ सूर्य लोक द्रश्य एवं दर्शन साधन हैं द्रष्टा वा दर्शक नहीं किन्तु चेतन सूर्य जगदीश्वर दृश्य दर्शनीय द्रष्टा एवं दर्शक भी है । एवमेव चेतन जीव भी दृश्य द्रष्टा दर्शक और दर्शनीय है ।	२११

विषय पृष्ठ

१६२ –जैसे चर्म चक्षुओं से सूर्य लोक देखा जाता है इससे अत्यन्त स्पष्ट आत्मचक्षु (दर्शन शक्ति) से ओ३म् स्वरूप साक्षात् प्रत्यक्ष होता (बिना इन्द्रियां और अन्तःकरणों के देखा जाता) है ॥ २१२

समाप्तम्

ओ३म् प्रत्यक्षै ब्राह्मणे नमः ।

भूमिका ।

प्रिय जिज्ञासुवो !

जीवात्मा अत्यन्त अल्प स्वरूप एवं अतीव अल्प यत्न होने से इसको प्राप्त ज्ञान की आवृत्ति करने की अवर्जनीयता है। मोक्षाश्रम में आवृत्ति (दुहराने) के साधन (कारण + पुस्तकादि) भी नहीं रहते और अवकाश भी नहीं मिलता। परमानन्द प्राप्ति इसे एक निमेष को नहीं छोड़ती अर्थात् मोक्षानन्द के अनुभव में यह ऐसा आसक्त (फँसा वा मग्न) रहता है कि इस अल्पज्ञ को कदापि यह चेत नहीं होता कि इसका मुक्ति साधन ज्ञान अनावर्तन करने से शनैः शनैः नष्ट हो रहा है। फलतः मुक्ति समय समाप्ति पर प्रवाह अनादि तिरोहित अविवेक पुनः आविर्भूत हो जाता है। तदनन्तर अविवेक (जड़ के अनुराग) से प्रेरित हुआ जीवात्मा ईश्वर आदेश पाते ही संसार में प्रवेश करता है। अतएव उसके जीवन का सम्पादित उद्देश्य संसार सुख प्राप्ति होता है। [१]

फिर संसार सुखों से दिन रात्रि की भाँति सम्बद्ध अर्थात् सुखों के सङ्ग भी, पीछे और पहले भी अब दुःखों का अनुभव करता है; और सुखों को दुःख परिणामी समझता है तब जड़ वस्तु मात्र से विरक्त होकर चेतन के सद्राग से प्रबुद्ध होता है।

तदनन्तर परमार्थ में विवेश करता है। उस समय उसका परम लक्ष्य मोक्षानन्दानुभव होता है।

भाव यह है कि यद्यपि लोक प्रसिद्ध मनुष्य जीवन के दो प्रयोजन वा अभीष्ट हैं; लोक सुख और मुक्त्यानन्द। किन्तु जगत् सुख सद्वन्द्व अर्थात् दुःख सङ्गी वा दुःख परिणामी एवं क्षणिक होने से गौण हैं और मोक्षानन्द निर्द्वन्द्व (विरोधो रहित) विवेकतः निरन्तर एक रस अनुपम और चिर होने से अत्यन्त मुख्य एवं अवधारणीय (ध्येय एवं प्राप्य) है। [२]

उपर्युक्त सिद्धान्त के विस्पष्टी करण एवं पाठकों के निश्चयार्थ प्रदर्शन करते हैं कि:—संसार के पदार्थों में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो सदैव सर्वतः सर्वथा सर्वत्र निरन्तर पूर्ण एक रस स्वरूप (कूटस्थ) नित्य एक समान तथा एक से क्रियात्मक गुण कर्म एवं सम स्वभाव युत हो; तथा जो सर्वथा अविकारी अपरिणामी एवं अविकृत और अपरिणत हो अर्थात् जिससे न कोई वस्तु बने और न किसी वस्तु के बिगड़ने पर वह पदार्थ अपने दशा में प्रकट हो; उत वा जो न किसी वस्तु से बना हो और न उसके नष्ट होने पर कोई अन्य वस्तु स्वरूप को प्राप्त करे जैसे मिट्टी से घट (घड़ा) और घट से मृत्तिका। [३]

यद्वा जो स्वरूप परिणामी न होता हुआ अवस्था परिणामी भी न हो अर्थात् मोक्ष बन्धन जागृति स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का आश्रय (भक्ष्य) न हो प्रत्युत इनका जेता (इनसे अपराजित) सदा मुक्त और जागृति स्वभाव हो। किंवा जिसके

सर्व गुण कर्म वा प्रयत्न और बल और स्वभाव न्यूनाधिक होने वाले और परिवर्तनशील न हों। [४]

निष्कर्ष यह कि जगत् में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो सर्व द्वन्द्वातीत (दो परस्पर विरोधो गुणों वा अवस्थाओं से परे) हो। सब द्वन्द्वों से ग्रस्त एवं दो वैरियों से प्रभूत (प्रभावित) वा विवादास्पद हैं।

निदर्शनार्थ प्रथम कार्य जगत् को समक्ष रखते हैं:—देखिये तू (तो) कोई ऐसा पदार्थ है जो प्रतिज्ञात मत का खण्डन करता हो। जड़ चेतन युक्तों में से सब से पूर्व सर्वोपरि प्रिया एवं सर्वोत्तमा स्नेहिनी माता के चरणों का स्पर्श करते हुये इस की स्नेहावस्थायें पर्यालोकिता करके विवेचन कीजिये। जिस समय भोग सामग्री (सम्पत्ति) नष्ट हो जाती है और उदरार्थ प्रवासी बनने की आज्ञा देती है; अथवा किसी और कारण से तुमसे विमुख और विरक्त हो जाती है तब गत परम प्रेम मूक और बधिर (गूंगा बहिरा) हो जाता है।

पिता का प्रेम तो माता की अपेक्षा अति न्यूनतर है। और किसी साधारण वा विशेष कारण ही से विनष्ट होता है। तथैव भ्राता भगिनी आदि की प्रीति साधारण लाभालाभ वा हानि आदि के प्रयोजन उत वा वश से छिन्न भिन्न हो जाती है।

हां माता से उत्तर ललना वा पत्नी का आकर्ष ऐसा है कि वह पुत्र को माता के त्याग पर (के लिये) भी कभी २ विवश कर देता है; परन्तु भोजन वस्त्रादि की आवश्यकता उसका

हास करके पारस्परिक वियोग करा देती है। अथवा पति पत्नी दोनों में से किसी एक का भी दुराचार वा व्यभिचार दाम्पत्य घनिष्ठ स्नेह का नाश करके एक को दूसरे के रुधिर का प्यासा बना देता है।

अन्य सब प्रकार के इष्ट मित्र परीक्षणीय नहीं हैं क्योंकि जो महा पुरुष हैं वे रागी नहीं होते; मध्यम और निकृष्ट कोटि वाले जन तो प्रायः स्वार्थ साधक मात्र होते हैं ; [५]

अपने शरीर से सामान्य राग करने में आत्म अवनति, अति राग से आत्मघात और अत्यन्त दुःख तथा पशु आदि योनियों की सिद्धि होती है। दुःख बाहुल्य और घोर आपत्ति में शरीर से भी घृणा हो जाती है।

अब अन्य केवल जड़ धनादि को लीजिये। ये एक ओर सर्व संसार सुखों के साधन हैं, दूसरी ओर घोर चिन्ता अपितु मृत्यु के भाजन भी हैं, भोज धान्यादि कृत सर्व पदार्थ क्षुधा निवारक एवं तृप्तिकारक हैं। किन्तु क्षुधा के अभाव में वा तृप्त्यनन्तर खाये हुए दुःखद रोगकारक अपितु मरण सहाय वा मारक भी होते हैं। एवमेव प्रायः सर्व औषधियां युक्त समय और नियत परिमाण में उपयुक्त होने पर सुखप्रदा; अन्यथा दुःखदा वा मारिका हो जाती हैं। ये सब ही अन्न और औषधि आदि पदार्थ स्वयं विकृत (बने हुये) और परिणामी होने से कालान्तर में दूषित हो जाते हैं।

इत्थमेव विवेचन करने पर अन्य सब ही जड़ पदार्थ द्वन्द्व

पूर्ण विवादास्पद एवं जीर्णभावी सिद्ध होते हैं। अतएव विवेकधी आत्माओं के प्रति सब ही हेय एवं त्याज्य हैं। उपादेय वा ग्राह्य नहीं हैं।

रही प्रकृति (परमाणु, समूह), वह पहले ही जड़ होने से चेतन में जड़ता का आरोप करती है अर्थात् जीवात्माओं को सु समान ज्ञान हीन नहीं तो पागल अवश्य बनाती है। चेतन आत्मा अपने को युवा वृद्ध, काले पीले, गोरे आदि कहने लगते हैं। दूसरे उसका स्वरूप परिणामी और विकारी है एवं वह (प्रकृति) द्वन्द्व के भँवर में डूब रही है। अतः स्वाभिमानी जीव को आप सा ही बनाने के कारण छोड़ने के योग्या है। जड़ चेतन युक्त क्रियमान पदार्थ समूह जगत् कहाता है [६]

चेतन युक्त जड़ और केवल जड़ पदार्थों के निर्वचनान्तर, केवल चेतन पदार्थ का परीक्षण करना रहा है वह भी देखिये:—

जीवात्मा वस्तु यद्यपि असङ्ग निराकार एवं कूटस्थ अर्थात् अन्यान्य चेतन अथवा जड़ पदार्थों से न संयुक्त होने (जुड़ने) वाले फलतः स्व स्वरूप से निर्विकारी एवं अपरिणामी हैं तथापि स्वप्न सुषुप्ति जागृति मोक्ष और बन्धनादि भिन्न भिन्न दशाओं में परिवर्तन रहने से अवस्था परिणामी हैं। इनके गुण कर्म स्वभाव भी परिवर्तन शील हैं। उनके गुण कर्मों आदि की संख्या परिमाण और अवस्थायें भी सामयिक भेद को प्राप्त होती हैं।

अतएव पूर्णतया ये (जीवात्मा) भी एक रस नहीं और न सर्वतः सर्वथा सत्य हैं, और इसी कारण एक जीव दूसरे जीव का ईश्वर वत् उपास्य नहि हो सकता [७]

निष्कर्ष यह है कि जगत् के सब ही पदार्थ (कारण वा कार्य) द्वन्द्व (दो विरोधी गुणों से) पूर्ण शान्ति हीन, और चेतनात्मा का चैतन्य तिरोहित होने (छिप जाने) के साधन हैं; चेतन अल्पज्ञ बद्धात्मा भी अन्यात्मा के लिये उपर्युक्त दोषों के के भाव से ध्येय वा उपास्य नहीं है। जड़ों की उपासना ही से तु (तो) सर्व शक्तियों का नाश होता है।

अल्पज्ञ की उपासना (भजन वा भक्ति) से बन्धन दुःख अथवा सुख रूपक दुःख अन्ततः नाश का साधक होता है [८]

एवं सर्व रूपेण निदर्शन फल यह है कि जीवात्माओं तथा जड़ पदार्थों में कोई भी उपास्य ध्येय वा ज्ञेय नहीं है। केवल एक सच्चिदानन्द नित्य निराकार निर्विकार निराधार, सर्वाधार, सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सर्व शक्ति मान, सर्वान्तर्यामी, सर्व प्रकाशक, प्रकाश स्वरूप, न्यायकारी, दयालु, अत्यन्त पवित्र सर्वदा अविद्यातीत, सर्वदर्शी, सर्वथा अजन्मा अजर अमर अभय, अनुपम, अनादि, अनन्त, स्वयम्भू, सदा जागरूक, असंख्य अनन्त एवं पूर्ण और एक रस गुण कर्म युत, नित्य एक रस मुक्त सर्वतः सर्वथा सर्वदा सर्वत्र सत्य स्वरूप निरवयव एक अवयव, अखण्ड एवं अखण्ड्य, सृष्टि कर्ता, धर्ता, हर्ता, कर्माध्यक्ष, सर्वदा सर्वथा एक सम स्वभाव; अनन्त स्वरूप होने

से, अचल (स्वरूपस्थ-कूटस्थ)' असंग, सर्वावतारक (उतारने वाला), अनवतारी (न उतरने हारा), अत्यन्त कमनीय, मोक्ष दाता, कार्य, कारण जगत् एवं मोक्षाश्रम रूपी त्रिधाम नियन्ता (नियामक) सर्वेश्वर' सर्व बद्ध (जगत्स्थ') और मुक्त जीवात्माओं का अत्यन्त तथा एक मात्र उपास्य, दर्शनीय अपितु उपर्युक्त त्रिधामों से परे (निकल कर) प्राप्त करके सह वसनीय है [९]

परन्तु हा !!! इस भयानक अविद्या अन्धकार की दशा में अब न वैदिक राज्य है' न वास्तविक वर्णाश्रम व्यवस्था, निर घर जन द्विज अपितु ब्राह्मण, प्रत्युत अत्यन्त खेदार्थ संन्यासी कहाते हैं;

प्रिय पाठको !

[कहिये हम रोवें कहिये लिखें, अच्छा आओ दोनों कार्य करते जावें] मनु कहते हैं "योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः" (अ० २ श्लो० १६८); एवं वेदोपदेश है "यस्याग्रं विश्व आर्यादासः शेवधिपा अरिः। तिरश्चिद्यें रुशमे पीवरवि तुभ्येत् सो अज्यते रयिः॥ ऋ० ८।५१।९) अर्थात् (१) जो यज्ञोपवीत (वेदाध्ययन प्रतिज्ञा सूत्र) धारण करके वेद न पढ़ता हुआ अन्य कुछ पढ़ता वा कोई और कर्म करता है वह इसी जन्म में पुत्र पौत्र सहित शूद्र हो जाता है (मनु०) (२) जिसकी सृष्टि के सब मनुष्य देह धारी जीव दो भागों में विभक्त हैं:-(१) आर्य वेद

विद्या को पढ़ कर उसे रखाने वाले हैं, (२) दास (शूद्र) अरि (अ + रिः) अगति = ज्ञान रहित। आर्यों के विरोधी सताने वाले दस्युओं के जो सूर्य सम प्रतापी राजा विद्युत् सम अस्त्र शस्त्रों से नष्ट करता है वह ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। अर्थात् जो मनुष्य जीव वेद पढ़ सकेंगे और पढ़ेंगे वा पढ़ते हैं वे आर्य कहे जावें और जो नहीं पढ़ते वा पढ़ सकते वे दास वा शूद्र हैं; और जो अत्यन्त सज्जन परोपकारी सर्व हितैषी होने से आर्य कहाते हैं उनके नाश से सर्व नाश होता है, अतएव इनकी रक्षा करने हारे राजा को सर्व सुख प्रद ऐश्वर्य मिलता है; वरन ऐश्वर्य प्राप्त करके भी राजा सुख से भोग नहि सकता जिसका उदाहरण वर्तमान राजे बन रहे हैं।

आगे वेद में संन्यासी का लक्षण भी उपदिष्ट है:-"एषवा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् [अथ० ९।६ (३) ७] अर्थात् यह अतिथि यथा रुचि बेरोक सर्व राज दर्बारों में सर्वत्र जाने वाला संन्यासी निश्चय करके वह ही हो सकता है जो श्रोत्रिय वेद के गूढ़ भेदों का ज्ञाता पूर्ण वेद रक्षक हो इस लिये ऐसे पुरुष नाम अतिथि से पहले मत खाओ [१०]

अति खेद स्थान है उपर्युक्त अवैदिकता के कारण सब कुछ उलट गया है। न मानव (मान + अव) मानरक्षक, शास्त्र का मान है और न वेद (वेः दः गर्तेदः सर्वज्ञानादि दाता विद्याकोश) का विज्ञान, अधिकांश जनतु केवल महाभूत वादी हैं, सूक्ष्म जड़ पदार्थों वा चेतनों का क्या आख्यान।

दूसरे सूक्ष्म जड़ वस्तुओं से कुछ अभिज्ञ भी हो गये तो आत्मतत्वान्ध हैं।

तीसरे, यदि आत्म परमात्मतत्व के नामों अथवा गुण कर्मों से भी साधारणतया परिचित हो गए तो वे योगतत्व बुभुत्सु हुए आम्नावर्त्त सूर्य की ओर ताक रहे हैं।*

सूर्य की यह कथा है कि उसे यथार्थ स्वरूप चेत तु कहां, प्रायः अपनी सत्ता, सामान्यतः निज गुणों एवं स्वतन्त्र कर्तृत्व का क्रियात्मिक ज्ञान नहीं।

चौथे, सूर्य से तात्पर्य सार्वभौम आर्यों से है जो पृथिवी से ईश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्मापेक्ष साधारणतया शाब्दिक ज्ञाता और अंशतः (कतिपय) योग तत्व के वाचक वेत्ता भी हैं परन्तु प्रायः आलस्य प्रमादवश ध्यानोपासना नहीं करते।

अनेन हेतुना आत्म परमात्मादि स्वरूप तत्वानभिज्ञ, अविज्ञ अथवा कुविज्ञ उत वा विपर्यज्ञ हैं।

केचन सर्वोत्तम ज्ञानी ईश्वर गुण कर्म प्रत्यक्षता को ही ओ३म् पारत्यक्ष्य मानते जानते हैं। [११]

ईदृशी विज्ञप्ति की दशा में "ओ३म् दर्शन" का प्रचार कितना कठिन, नीरस एवं दुर्गम दुरवबोध्य, और सार्थ हो कि यत्तावत् आवश्यक तथा अवधार्य है। यदि यथार्थ आत्म-परमात्म योगा-

* The east has very much to instruct the western, The east can instruct the west things relating to the soul and maditation (Science and Religion.s Ouliver louge)

भ्यास (आत्मा को परमात्मा से युक्त होने का अभ्यास) एवं परमात्म साक्षात्कार का प्रसार हो जावे तो जिस विधि सूर्य उदय होते ही सर्व-भ्रम स्वप्न बन जाते हैं। ऐसे ही 'ओ३म्' दर्शन से आत्मा परमात्मा, मोक्ष, बन्ध और वेदादि के आवरक तथा वास्तविक विज्ञान के बाधक सर्व अन्यथा व्याख्यान वा कोरा जल्प (देखो पुस्तकस्थ प्र० सं० ११७) विप्रलाप, लोक मोक्ष घातक एवं सर्वनाशक विप्रलाभ (बञ्चना वा ठगी) आदि कुव्यवहार, दुर्व्यापार, एवं मद्यपान, पशुभक्षण, फलतः अनाचार, दुराचार, पाशवाचरण, पशुत्वगमन आदि आदि वृथा झंझट सम्भवतः नष्ट होकर, वेद की सर्व सद्विद्याओं के प्रकाश से पूर्व प्रख्यात पदार्थों का यथावत् वास्तविक बोध होवे और सर्व लोक वासी यथार्थ शुभाचारी सदाचारी (वेदाचारी) धार्मिक पुरुषार्थी तात्विक योगाभ्यासी, सर्व हितकारी परोपकारी वेदोक्त आर्य बनें। पुनः त्रिदुःखों का विध्वन्स करके सर्व शारीरिक मानसिक और आत्म सुखानन्दों को भोगते हुये परमानन्द को प्राप्त करें। [१२]

वर्त्तमान् भूवासी लोकों की धर्म पुस्तक विषय की यह दशा है कि:—साधारणतः प्रायः सर्व भूमि के (पौरस्त्य वा पाश्चात्य) वासी कोई ईश्वरीय पुस्तक वा शासन शास्त्र (देखो प्र० सं० ११३)* नहीं मानते, एवं मुक्त धर्म पुस्तकों

* इस संख्या पर लिखी ऋचा में ईश्वरीय शासन शास्त्र (वेद) को ईश्वर से ऋषियों के पढ़ने का ढङ्ग वर्णित है।

को मनुष्य कृत मानते हैं, अतीव अल्प (संख्यात) जन समूह इनको ईश्वर प्रदत्त मानता है।

सर्वा शिक्षाओं एवं सम्पूर्ण सद्विद्याओं के अधिकरण वेद भिन्न अन्य शिक्षाओं को यदि ईश्वर प्रदत्त न मानें तो (तु) आश्चर्य नहीं क्योंकि वे अल्पज्ञता होने से अपूर्ण और अपर्याप्त हैं, परन्तु अद्भुत यह है कि बिना ज्ञान, प्रत्युत दर्शन स्पशतान्नृते प्रायः ईश्वरानभिज्ञ वा नास्तिक भाष्य कर्ताओं उतवा उनके अनुवादक अवैदकों के ज्ञाता ज्ञात विप्रलाभ वश प्रश्नगत परमात्म शासन शास्त्रों की अपौरुषेयता की अनूरी कर देते हैं, और "संगच्छध्वं संवदध्वं" आदि वेदीय शिरोधार्या शिक्षा के नितान्त विरुद्ध मानुषी विप्रयोग वृद्धि एवं सर्वजन हानि में अजानतः संयोग (सहाय) देते हुए स्वविप्रलय के साधक बनते हैं [१३]

सर्वावनति तथा पाप मूलक दुःखों को जननी एवमुक्ता अनूरी (अस्वीकारी) के कारण बहुधा ये हैं:—

(१) गर्भ से कतिपय वर्ष पर्यन्त प्रायः अनार्य्या (न हटने योग्या) प्रारम्भ की शिक्षा देने वाले जीवात्मा जिन माता शरीरों में वास करते हुए शतोत्तर अपितु शतशः वेद प्रसिद्ध ऋषि हो चुके हैं, आज उन माता देहों के अधिष्ठाता आत्मा वेदाध्ययनाध्यापन (रुद्र खेद) अपितु यज्ञोपवीत (वेदाध्ययन प्रतिज्ञसूत्र) अनर्हा (अनधिकारी) कोरे शूद्र समझे जाना, एवं असंस्कृत अशिक्षित वा कुशिक्षित तथा तिरस्कृत माता जीवों से

गर्भस्थात्माओं का उनकी मानसिका वाचिका आदि क्रियाओं का सीखना और द्विजत्वाभिमानी पिता, पर शूद्रा माताओं से वर्ण संकर उत्पत्ति।

(२) आत्म परमात्मानभिज्ञ असंस्कृत (वैदिक संस्कार हीन) अयोगी आत्माओं के लिये वेद रचना की गूढ़ता (देखो प्रमाण सं० २३ "ऋचो अक्षरे परमे०)

(३) सर्वांश सम्पूर्ण तथा सर्वासद् विद्याओं और विश्वा शिक्षाओं से सम्पन्न होने से वेद विषय की बाहुल्य।

(४) सामान्यतः लोक में संस्कृत एवं आर्य भाषा का अज्ञान प्रत्युत तिरस्कार वा बहिष्कार।

(५) अभक्ष्य भक्षण, अपेय पान, दुष्टाहार विहार, कुसंस्कार अनाचार, दुराचार आदि; फलतः बुद्धि मालिन्य यथार्थ राज योग (ब्रह्मयोग) अज्ञान एवं अननुष्ठान; अन्ततः आत्म परमात्म तत्व का अबोध है।

[वेदाध्ययनार्थ सात्विका शुद्धा बुद्धि की अनिवार्यता है। यदि वेदार्थ भाष्य को सात्विक आहारादि के संग ईश्वर उपासना (देखो " धीमहि, पद का अर्थ, ब्रह्म बोधिनी सन्ध्या में) करते हुए शुद्ध आत्मा पढ़ कर वेद की सद्विद्याओं, अपूर्वा शिक्षाओं एवं आत्म परमात्म तत्वों के रहस्यों को प्राप्त तथा अवगत करें, तु वे अधीवर वेद को कदादि पौरुषेय (मनुष्य कृत) न कहें]

(६) अहं ब्रह्मवाद जो कोरा जड़वादी, आत्म परमात्म-

पाती, मोक्ष विनाशी, पुरुषार्थ शत्रु, कर्मण्यता वैरी, आलस्यानाचारादि मित्र, वाम मार्ग मूल है।

(७) जो गिने चुने विद्वान् वेदों को अपौरुषेय (ईश्वर शिक्षित) भी अङ्गी कृत करते हैं; वे भी प्रायःवाणी ही से कथालाप करते हैं। इन बहु मान्य जनों को हन्त आत्मा परमात्मा के अकरण वक्तृत्वादि में बहुधा सम्भ्रम वा सन्देह है।

सन्देह की प्रकृति आत्म-परमात्म-तत्वों के वास्तविक विज्ञान की यथार्थ अप्राप्ति है। तत्वज्ञान अनवाप्ति का कारण असद् वा वाचक विश्वास; (कथयान्यहम्) अन्ध विश्वास का साधन अनुपासना वा अयथावत् योगाभ्यास; अपासना वा अन्यथा ध्यान का आधार अयथार्थ विद्या तथा आत्म नैर्बल्य; और इनके माता पिता यथार्थ स्वाध्याय हीनता और मिथ्या आहारादि हैं [१४]

यदि शास्त्रोक्त युक्त आहार विहार और यथावत् स्वाध्याय (वेदाध्ययन) से आत्मा परमात्मा के गुण कर्मों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें, तो इनसे सद्विश्वास, उससे, वास्तविक ईश्वरोपासना" उपासना से प्रथमेव आत्म परमात्मा स्वरूप बोध, पुनः साक्षात् दर्शन; उससे वास्तविक एवं पूर्ण तात्विक ज्ञान का पारत्यक्ष (सर्वथा निश्चय) हो सकता है।

तदनु उस तत्व ज्ञान सम्प्राप्ति नाम आत्मा परमात्मा के यथार्थ (ज्यों के त्यों) सब गुण कर्म स्वभावों और वास्तविक स्वरूपों के सम्यक् विज्ञान प्राप्ति के उपरान्त कोई भ्रम वा भ्राँति

आत्मा और परमात्मा दोनों के अकरण वक्तृत्व, द्रष्टृत्व आदि, एवं जीव के चलनत्व आदि, तथा मोक्ष बन्धनादि विषयों में छाया सदृश नहीं नहीं, संस्कार रूप से भी नहीं रह सकती एवं निश्चयामहे । [१५]

पर ओ३म् "दर्शन" का तो कथन क्या, तद्दर्शन संस्पर्श की वार्ता भी कर्णगोचरी बनाने को तार वा सज्जन ही "प्रत्यक्ष" पदार्थ को परमावधि का द्योतक समझते हुए, लोकमित वा साधारण प्रचलित शब्द "दर्शन" को 'ओ३म्' पद की गोद में स्थापित करने की सम्मति देते हैं । अस्तु

यह ही एक मात्र कारण है कि आज संसार में भाँति भाँति के सर्वतः सर्वथा सर्वदा परस्पर जड़ चेतन भेद भिन्न एवं नाना वेश वा रूपधारी आदि विविध ईश्वर माने जाते हैं ।

अन्धों में हाथी वाली कथा आज कल जगदीश्वर विषय में सर्वाङ्ग चरितार्थ हो रही है । (१६)

ईश्वर प्रदर्शनी ।

उपरि स्मर्त एवं वर्णित ईश्वरों में से प्रत्येक को उसके उपासक यथार्थ जगदीश जान मानते हैं । तद्भिन्न दूसरों के ईश्वरों को अन्यथा वा अनीश्वर समझ कर, उनके भक्तों वा उपासकों को नास्तिक (काफिर) आदि कहते हैं और आप को आस्तिक एवं ईश्वर मानी माने हुये हैं । प्रायः सब के ईश्वर शरीर धारी हैं ।

अच्छा आइये भिन्न भिन्न ईश्वरों का समालोकन एवं समालोचन करें :—

(१) सब से पूर्व साकार वादीमत परमात्मा को निराकार से साकार हो जाने वाला मानता है । निराकार रहते हुये एक व्यक्ति को जो घोर पापी था, मारने के लिये असमर्थ समझ कर उसे मनुष्य शरीर पहना कर समर्थ बनाता है । यह मत अपने उपास्य देव को सदाचारी तो मानता है, परन्तु उसके आचरण का अनुकरण नहीं करता । अपने ईश्वर की प्रतिमा पूजता है ।

परन्तु जैसा वह उनका उपास्य शूर वीर तथा योगी था, वैसे लक्षण, एवं गुण कर्मों का प्रतिमा से छाया रूप भी भान नहीं होता । प्रत्युत उसके सर्वथा विरुद्ध नृत्य गान का प्रकाश होता है । मूर्त्ति को धारित कराए वस्त्राभूषणादि उस शौर्य स्वरूप को सर्वथा कलङ्कित कर रहे हैं ।

प्रत्येक भक्त अपने में उस ईश्वर को रमा (बसा) हुआ मानता हुआ, आप गुप्त रूप से (हृदय में) ईश्वर बन रहा है । एवं उस परमास्तिक ईश्वर भक्त (निज ईश्वर) को स्वयं परमेश्वर कह कर उसे नास्तिक एवं अधर्मी ठहराता हुआ घोर पाप फल भोगने को सन्नद्ध हो रहा है ।

(२) द्वितीय साकार वादी मतानुगामी जन अपने ईश्वर को नाचने, गाने, चोरी जारी करने वाला दुराचारी मानते हैं । उसके नाम से विचित्र तथा विविध दुष्कर्म फैलाए जा रहे हैं । जिनके लिये कतिपय सरल पुरुष को छोड़ के शेष सब दोषी हैं । दुरा-

चारी उसके मिस से मन भर भ्रष्टाचार करते हैं, अन्य शब्दों में ये एवं भ्रष्ट लोक वाम मार्ग के संचालक हैं।

वस्तुतः यह शरीरी (इनका उपास्य देव) उपर्युक्त की नहीं दुर्गुणों से दूषित न था। वह परम ईश्वर भक्त, उपासक योगी सदाचारी था। जो जन उसको सदाचारी जानते हैं वे उन्नति करते हैं, तद्भिन्न जो दुराचारी मानते हैं वे अवनत होते हैं। "यादृशी देवता उपास्यते, तादृगेव फलं सम्पद्यते" अन्यच्च "यो यथा मामुपास्ते, तां तथैव भजाम्यहम्" अर्थात् जो जैसे देवी को वा देवता को जैसा समझ कर उसकी उपासना (ध्यान) करता है, वह वैसा ही बनता है।

(३+४) कई मत आरम्भ से तो ईश्वर नहीं मानते, पीछे मुक्त होने पर जीव ईश्वर बन जाते हैं। ये जीव को अनादि सान्त और ईश्वर को सादि अनन्त मानते हैं। इनके ईश्वर परिमित स्वरूप एक देशी अचल अकर्त्ता एवं अशक्त अर्थात् ज्ञान क्रिया आदि के लिये असमर्थ होते हुये उनसे सर्वथा विरक्त और अनेक हो चुके हैं।

ये सब ईश्वर एक नियत स्थान पर ठहरे हुये हैं। उन्हें मुमुक्षुओं वा ईश्वर बुभुक्षुओं की शिक्षाओं पर संसारी जीव चलते हैं।

इन ईश्वर होने वाले जीवों ने अपने को अनादि सान्त, और कार्य जगत् को स्वतः सिद्ध एवं अनादि अनन्त, और बन्धन को अनादि सान्त तथा मोक्ष को सादि अनन्त माना है।

जीव असंख्य, एवं सङ्कुचित (समिट जाने वाले) और विकासित (फैलने हारे) अर्थात् छोटे शरीर में छोटे हो जाने वाले और बड़े देह में बढ़ जाने वाले माने हैं।

इन तृतीय और चतुर्थ (दोनों) मतों के ईश्वर वस्तुतः सादि सान्त हैं। (देखो विश्वव्यापक वैदिक नियम पुस्तक की भूमिका) वहां समीक्षण पूर्वक सिद्ध किया गया है कि इन दोनों मतों के ईश्वर एवं मुक्ति जिस भाँति कर्म की कारणता से सादि सिद्ध हैं उसी प्रकार कर्म के कारणत्व से जीव और बन्धन भी सादि सिद्ध हैं, कदापि असिद्ध नहीं कहे जा सकते। अतएव जीव और ईश्वर दोनों विकारी परिणामी सासिद्ध वा देदीप्त हो रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं।

जब विकारी परिणामी हैं, तो प्रकृति की नाईं केवल जड़ वस्तु हैं जो कार्य कारण रूप से प्रवाह अनादि मात्र हैं। यहां जड़त्व भिन्न चैतन्य की छाया भी नहीं, जीव ईश्वर पद चेतन पदार्थों के लिये विद्वान् प्रयोजन प्रयुक्त करते हैं, ऐसे जड़ों के लिये नहीं, अतएव यह विस्पष्ट सिद्ध हो गया कि ये मत ईश्वर एवं जीव पदार्थों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं केवल जड़ अभिज्ञ प्रत्युत उसके अयथार्थज्ञ हैं। क्योंकि जगत् का प्रत्येक पदार्थ प्रत्यक्ष सावयव है, सावयव पदार्थ नित्य नहीं हो सकता, केवल निरवयव पुद्गल ? परमाणु वा ईश्वर नित्य कहा जा सकता है। एलेक्ट्रन और एटम भी नहीं तो, इतने स्थूल लोकादि कैसे, नित्य कहे जा सकते हैं, कदापि नहीं। जिस वस्तु का कारण

होता है वह नित्य वा अनादि नहीं कही जा सकती। जैसे कर्म कारण होने से मुक्तिवत् बन्धन सादि मानना पड़ता है अथवा जैसे मुक्ति का प्रति द्वन्द्वी बन्धन, जो मोक्ष क्षण से पूर्व उपस्थित था उसी मुक्ति प्रद कर्म से सान्त होगया, तद्वत् जैसे बन्धन का प्रति द्वन्द्वी मोक्ष, जो बन्धन क्षण से पूर्व विराज रहा था बन्धन होते ही समाप्त एवं सान्त हो गया ऐसे ही परमाणु, ईश्वर, वा पुद्गल नामधारी कारण वाला जगत् अनादि और अनन्त नहीं कहा जा सकता।

(५) कोई मत वादी लोक ब्रह्म को नित्य, सत्य, ज्ञान क्रिया हीन, अनादि अनन्त, निर्विकार, निराकार, अद्वितीय वा अद्वैत मानते हैं, उससे भिन्न किसी वस्तु को नहीं मानते।

इनके ब्रह्म को माया (जिसका ब्रह्म निर्वचन वा वर्णन नहीं कर सकता) सूर्य को अभ्र (अभ्र = बादल) की नाईं आवर्त कर (ढक) लेती है अर्थात् (अधूरे वैरागी को जैसे व्यभिचारिणी भ्रष्ट कर देती है ऐसे) मोहित कर लेती है, पश्चात् ब्रह्म ईश्वर (उसका स्वामी वा पति) बनकर जगदुत्पत्ति करता है, एवं उत्पत्ति करने पर अविद्या में फँस कर (ब्रह्मा पुत्री न्याय से) अपनी सन्तति को भोगने लगता है और अब जीव कहाता है। और इस प्रकार वह वाम मार्ग का प्रथम बीज बप्ता एवं आदि मूल बनता है।

अहा! ब्रह्म से भिन्न सजातीय वा विजातीय कैसा भी द्वैत तथा न जाने यह दुराचार, घोर अनाचार, अपितु अत्यन्त भ्रष्टा-

चार की स्थापिका, वेद विरोधिनी, मनुष्य मात्र के मुख्य अधिकारी उपदेशक संन्यासी समुदाय की भ्रष्टकारिका माया कहां से कूद पड़ी।

इस दुष्टा माया पर मोहित हुआ ब्रह्म ईश्वर बनकर अपने स्वरूप को जगत् रूप में द्विप्रकार विकृत करता है; एक सूक्ष्म विकार वा रचना जिसको जीव कहते हैं; द्वितीय स्थूल जिसमें लोक लोकान्तर आदि और अन्य सब स्थूल शरीरादि लोकों पर रहने वाले पदार्थ विविध रूप रूपान्तरों के होते हैं।

परन्तु ये सब सूक्ष्म तथा स्थूल अनेकानेक रचनायें मिथ्या कही जाती हैं, अर्थात् ब्रह्म अपने इस सर्व कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि को मिथ्या आचार विचार तथा अन्यथा आहार विहार ही मानता है (देखो "अविद्यात्मिकोपाधि.....ईश्वरस्येश्वरत्वमादि" पृ० २०१ ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य)।

जब ब्रह्म को अपने इन मिथ्या आहार विहारादि का यथार्थ बोध हो जाता है। तब वह अपने को ब्रह्म कहता हुआ, धर्माधर्म पाप पुण्य आदि के भेदों से परे हो जाता है। हा !!! स्त्री पुत्री भगिनी, मातादि में कोई अन्तर नहीं जानता मानता, सब को यथा रुचि सर्व धर्म और पुण्यों को तिलाञ्जलि देता हुआ भोग सकता है।

केवल गृहस्थी पुरुष अपने सङ्गी गृहस्थों के भय से लोक भाषा का सर्वथा आत्म सिद्धान्त विरुद्ध अन्यथा अनुवचन करता रहता है, वह भी कुत्ते, बिल्ली, गधे सुअर आदि सर्व पशु, पक्षी

और मनुष्यों को ब्रह्म ही का विकार वा ब्रह्म समझता है, न जाने कैसे, स्यात् अवशिष्ट अविद्यावश वा माया जाल में फँसा हुआ विवशः भेद मानता रहता है। ये एवमुक्त ब्रह्मलोक माया को अनिर्वचनीय भी मानते हैं और साथ ही अनादि सान्त भी।

मुक्त होकर जीव ब्रह्म बन जाता है क्योंकि उसी का विकार था, इस विधि परिणमित हो (बिगड़) कर उसी में मिल जाना सर्वतन्त्र सिद्धान्त है और स्थूल जगत् भी उसी ब्रह्म में (नाशः कारण लयः) नियम से मिल जाता है।

तृतीय चतुर्थ ईश्वरों की भाँति यह ब्रह्म भी वस्तुतः जड़ है जो कारण कार्य रूप से विकृत परिणमित होता रहता है। (प्रमाण सं० ५७ के आगे ब्रह्मार्थ देखिये प्रकृति का नाम भी ब्रह्म है) इस प्रतिज्ञा की सर्वोत्तमा सिद्धि 'अहं ब्रह्मवाद' मत के स्थापक* स्वामी शङ्कराचार्य जीव के उपर्युक्त वाक्य "अविद्यात्मिकेा पाधि ....." से देदीप्यिता (निरन्तर प्रकाशिता) हो रही हैं। क्योंकि जिस वस्तु में न ज्ञान है न शक्ति तो वह जड़ातिरिक्त चेतन त्रिकाल पश्चात् कही जावे, त्रिकाल में नहीं।

चेतन ब्रह्म एक वस्तु, निरवयव है और इस लिये कार्य कारण विकार परिणामों का अनाधिकारी, असहिष्णु, अयोग्य

*वैदिक धर्म के प्रचारक स्वामी शङ्कराचार्य इनसे प्रायः १२०० वर्ष पूर्व हुए थे। यह सं० ८४५ विक्रम वाले श्री वैकुण्ठाश्रम (शङ्कर) महाशय उनसे २७ वें हैं, जिनने अहं ब्रह्म वाद मत स्थापित किया है।

एवं अशक्य है, ये परमाणुओं के समूह जड़ ब्रह्म में ही सम्भवतः घटते हैं।

इसलिये यह भी न कोई जीव वा ईश्वर पदाधिकारी है और न कुछ मुक्ति बन्धन नाम धारी, सब कुछ धोखे टट्टी है वा अन्यथा चित्रकारी।

(६) उपर्युक्त मत के अनुज पर अन्तरतः विरोधी मत वाले जीव ब्रह्म प्रकृति तीनों को नित्य मानते हैं, परन्तु तीनों को मिलाकर ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत भी कहते हैं, वस्तुतः इन्हें भी उक्त तीनों में से किसी एक का भी वास्तविक बोध नहीं, वरन सर्वथा असङ्ग ब्रह्म, स्वरूपतः असङ्ग जीव, और सर्वतः सङ्ग स्वरूपा माया को खिचड़ी न पकाते; अर्थात् अविकारी और अपरिणामी चेतन जीव ब्रह्म को विकारी परिणामी माया नाम जड़ परमाणुओं के ढेर में मिलाकर एक न मानने लगते।

ये भी आत्मा परमात्मा पदार्थों के वास्तविक अनभिज्ञ होने से नाना दुराचारों के साधक तथा नितान्त वेद विरोधी हैं।

(७+८) ये दोनों मत अपने सिद्धान्तों में बहुत अल्प भेद रखते हैं। दोनों के ईश्वर प्रायः एक ही रूप के साकार हैं, केवल चतुर्थ और सप्तमाकाश निवास स्थान भेद दोनों को सर्वथा दो सिद्ध करता है, तथ्यतः एक दूसरे के पीछे गद्दी आरूढ़ हुये हैं। इनके राज्य नियमों में भी कुछ ही भेद है।

उक्त दोनों ईश्वर आसमानों पर एकत्र विराजते हैं, उनके राज्य का कार्य संसारी अन्य शरीर धारी राजाओं के ढङ्ग पर

देवताओं (फरिश्तों) के द्वारा चलना माना जाता है। इनके अतिरिक्त इनकी प्रजा अन्यों के ईश्वरों को अन्यों की अपेक्षा भी ईश्वर नहीं मानतीं।

ये दोनों ईश्वर अपने जिस सूचनाहार के द्वारा अपनी प्रजा के लिये अपना शासन शास्त्र भेजते हैं, उसको अपने साथ ही पुत्र वा मित्रवत् मनवाते हैं। उनमें से एक बिना पुरुष के एक कारी स्त्री से स्वयं अपनी शक्ति से सन्तान उत्पन्न करता है।

पुनः दोनों ईश्वर अपने पुत्र एवं मित्र की उपस्तुति वा प्रार्थना (शिफारिस) पर अपने तथा सूचनाहारों के भक्तों के अपराधों को क्षमा कर देते हैं, वे अपराध चाहे कितने ही हिंसा पूर्ण हों, क्षमा प्रार्थना करते ही नष्ट हो जाते हैं, [इसी निश्चय पर पापात्मा इन ईश्वरों तथा इनके सूचनाहारों पर विश्वास स्थापित करते (ईमान लाते) हैं। ये ईश्वर न्याय शत्रु और अनाचार अत्याचार एवं दुराचार स्थापक वर्धक और अपने अचाटु कारियों, अननुयायियों का सर्वस्व हर्त्ता लूट मार आदि की घोर घृणित नितरां निर्दय परघातक आज्ञा दाता हैं]

ये पहले पहल सृष्टि रचते हैं, और मन माने दुःख सुख, शुभाशुभ शिक्षा, सुष्ठु, दुष्ठ शरीर-योनि आदि आदि बिना कर्म के माता के उदर से ही भोग देते हैं।

अपने बनाये शैतान [मन] से आप तो विवश होकर घबराते हैं; परन्तु इनके भक्त (बन्दे) उसके बहकाने से उनके (ईश्वरों के) विरुद्ध जब काम करते हैं तब उनको दण्ड देते हैं।

स्थूल जगत् को ये ईश्वर पृथिवी आदि चार भूतों से, मनुष्यादि शरीर मृतिका (मिट्टी) और रुधिर से, और देवताओं के शरीर वा देवता सूक्ष्म अग्नि पदार्थ से एवं रूहों [सूक्ष्म शरीरों] को अन्य सूक्ष्म भूतों (माद्दा मैटर) से बनाते तथा माने जाते हैं। पुनः उसी जड़ (ज्ञान हीन=ग़ैरमुदरिक) सूक्ष्म भौतिक तत्व कृत रूह को [चेतन वत्] आज्ञा देते हैं और शुभ कर्मों को स्वयं कराते हैं, और अशुभ को उन (ईश्वरों) का शैतान कराता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों का फल वे अपने बन्दों को देते हैं।

उपर्युक्त सूक्ष्म अग्नि, अन्य सूक्ष्म एवं स्थूल तत्वों का यह पता नहीं बताते कि ये कहां से उड़ आये। इनके यहां तो माद्दा ही न था, केवल ये ईश्वर अद्वैत मात्र थे। फिर यह भी तो अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि जड़ (नौलिज लैस) वस्तुयें इनकी शक्ति से चेतनवत् सुनती, अन्य आचरण करती एवं दुख सुख का अनुभव करती हैं। वस्तुतः इनके यहां बुद्धि से घोर वैर माना है, इसी कारण जड़ों को चेतन माना है; और अपने बनाये कल्पित किये शैतान (मन) को अपना शत्रु समझ उसके कराये कर्मों का स्वप्रजाओं को दण्ड देना कहा है।

इन कल्पनाओं से सिद्ध है कि इन ईश्वरों को बुद्धि से विकट वैर था इसी कारण उन्मत्तवत् अपने भक्तों को ये मिथ्या गपोड़े सुनाये एवं सिखाये।

जब ये शरीरधारी हैं तब इनसे पूंछा जा सकता है कि आप

के शरीर किस वस्तु से बने और किसने बनाये क्योंकि शरीर सावयव (टुकड़ों वाली) वस्तु नित्य नहीं हो सकती। और न स्वयं सिद्ध।

ये ईश्वर महोदय उपासना, वन्दना (नमाज़) भी पढ़ते हैं (देखो जामपतिरिंज़ी) जो अपने से भिन्न निराकार सर्व व्यापक (ईश्वर) की ही हो सकती है। इससे इन महापुरुषों का आस्तिकत्व एवं परमात्म भक्तत्व सिद्ध होता। स्वयं परमेश्वरत्व नहीं।

केवल अपनी प्रशंसार्थ जगत् रचना करते हैं इससे इनका रजोगुण लोक ऐषणा अभिलाष भी स्पष्ट प्रदर्शित हो रहा है।

ये जगदारम्भ के वर्ष ६००० के लगभग मानते हैं परन्तु समाप्ति का पता नहीं देते। समाप्त करके फिर यथापूर्व आराम करेंगे वा अन्तिम निद्रा से ग्रस्त हो जावेंगे। और सब झंझट मिट जावेगा।

न जाने क्यों अपनी प्रशंसा की सूझी जो वास्तविक निन्दा ही है क्योंकि पूर्वोक्त बुद्धि विरुद्ध वार्ताओं के अतिरिक्त मनुष्य पूजा को नास्तिकता (कुफ्र) बताकर शैतान से आदम (आदिम) को साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम (सिज्दा) करने के लिये कहा। जिसके कारण वह बलवत्तर उस ईश्वर का अजेय वैरी हो गया।

और देखिये ईश्वर ने आदम एवं हव्वा को नङ्गे और निर्लज्ज रखना चाहा था और इसी लिये एक फल (गेहूं ?) खाने से

रोका था। परन्तु उनने शैतान के कहने से उस फल को खा लिया, खाने से जब लज्जा लगी तब पत्ता से अपने शरीर ढके। तदनन्तर जब अपनी वाटिका (बाग़ि अदन) में श्रीमान् ईश्वर जीव पधारे, और इनको पत्तों से अपने अङ्ग ढकते देखा एवं शैतान की शिक्षा सुनी; तब जगद्रचना करने पर बहुत ही पश्चात्ताप किया।

अब आप इस बुद्धिमत्ता की दशा विचारिये' नङ्गे रखना और किये कार्य के लिये पश्चाताप करना, प्रत्युत फिर उसे सर्वांश नष्ट (लीन) करने पर उतारू होना, यहां एक फ़िरिश्ते की बुद्धिमत्ता से एवमुक्त जगन्नाश बच गया जिसने तूफान समय सब पदार्थों का एक एक जोड़ा नाव में रख कर सुरक्षित कर लिया था। ये ईश्वर अपनी विश्वस्यता के लिये अश्वादि की अनेक शपथ भी करते हैं 'कपटी' मायावी, धूर्त वा वञ्चकों के सङ्ग लोह के लिये लोह न्याय से कपट वा वञ्चनादि और स्वेच्छा से यथा रुचि पथ विस्मारण (गुमराही) भी करते हैं (जैसा कि इनकी शासन पुस्तकों से प्रकाशित हो रहा है)। अपने सेवकों को बार बार आज्ञा देते हैं कि:—"मत रखो दोस्त सिवाय क़ौम अपनी के" इस प्रकार ये वैर के बर्द्धक वा साधक हैं' विवेकी जनों को इनसे बचकर निकालना चाहिये।

अपने भक्तों को जगत् की समाप्ति होने पर उत्तमोत्तम

विषय भोग की सामग्री पाने का विश्वासी बना रखा है' किन्तु निज विरक्तों को आग की भट्टा में झोंक देने का भय देते हैं।

ये ७ म+८ म स्थापना के ईश्वर प्रायः अपने पूर्वज ईश्वरों की जगत् रचना प्रणाली में चलते हैं। किन्तु उनकी अत्यन्त शोचनीय निज स्वरूप जाड्य की दशा देख कर, इतनी उन्नति कर गए हैं कि अपने स्वरूप से भिन्न अवस्तु [चोरित वस्तु] से जगत् बनाया बताते हैं और फिर सृष्टि प्रलय करके भी अपने से उसे भिन्न ही रखेंगे [यह अभिवचन है] और शरीरी जी वोपमा सदा ईश्वरोपासना करेंगे।

हां संसार समाप्ति के अनन्तर भक्त रूढ़ों के लिये जिन्नत नामक द्वितीय संसार (जहान) रच कर उनको दूसरे अनन्त अविनाशी शरीरों में प्रविष्ट करेंगे और प्रत्येक को विंशतिशः स्त्रियां और यूनक आदि मनुष्य अश्वगजादि पशु तथा शतशः प्रकार के भोजनादि प्राप्त कराने का लालच भी दे रखा है जिसके कारण विषयी एवं कामा सुनते ही आकर्षित हो जाते हैं विरक्त तपस्वी मुमुक्ष (निजातेच्छु) विकर्षित होते हुए उक्त विषयों को सर्वथा त्याज्य समझते हैं।

ये ईश्वर जड़ नहीं तो बुद्धिमान विद्वान् मनुष्य जीव तुल्य भी नहीं हैं।

(६) कई एक मतों के शरीरी गुरुजन ईश्वर कहाते हैं, जाति वर्ण आदि का प्रायः शाब्दिक खण्डन करते हैं, छूत छात हटाते हैं। परन्तु आत्म परमात्म एवं मोक्ष तत्वानभिज्ञता

के कारण नाना अनाचारों के साधक तथा वेद विरोधी वाम मार्ग के रक्षक हैं। तिलक इनके सम्प्रदाय का चिन्ह है।

(१०) एक मत के अनुयायी जो ईश्वर को योगीश्वर मानता हुआ उसको भङ्ग धतूरे आदि का भक्षक, अति विषयी मान कर उसके एवं उसकी धर्म पत्नी (जिसको माता भी कहते हैं) के गुह्य अङ्गों की विभिन्न मूर्त्तियां बनवाकर पूजते हैं, और इस भांति उसके सब से बड़े निन्दक घोर निर्लज्जता रूपी वाम मार्ग के वर्द्धक बन रहे हैं।

(११) कितनों का ईश्वर स्त्री वा शक्ति है। ये लोक सब से घृणित कर्म करते हैं। मद्य मांस भक्षण एवं अन्य दुराचारादि में सब से बढ़े हुए हैं। संक्षेपतः वाम मार्गियों के मुकट (शिर खान) हैं।

(१२) अहं सत्य ब्रह्म वादियों की ही शाखा रूप कितने जनों के गुरु पुरुष आदि ईश्वर और शिष्य अपरज ईश्वर और फिर सब ही भक्त छोटे बड़े यथायोग्य ईश्वर कहाते हैं। और जगत् को मिथ्या मानते हुए संगठनार्थ बड़ा आडम्बर रचते हैं सर्व बाल रखा कर सब एक वेष धारण करते हैं। पर अनात्म ज्ञान के कारण सब निष्फल है। ये स्वयं स्वपूर्वजों की मूर्त्तियां पूजते, शिष्यों से पुजवाते, और अपने अनुगामियों को मनुष्य पूजा का उपदेश देते हैं। ये मत भी वेद विरुद्ध मनुष्यों को ईश्वर कल्पित करने वाला लोक सुख तक का साधन नहीं, मोक्ष का तो आत्म परमात्म तत्व ज्ञान बिना होवे कैसे।

भाग से धोबी कहे मेरे दर्शन से हुआ, चरितार्थता की उस पद प्राप्ति पर छाप लगादी। और वे सरल भक्तजन भक्ति वश मान गये।

फिर क्या था वे महाशय पूर्णाधिकार पर पहुंच चुके थे। उन्होंने उन दोनों दर्जित और बाबा जी के नाम से एक मत चलाने की ठान ली। लौकिक सम्पत्ति वान् (बड़े) लोकों की हां में हां, मत में मत मिलाने की लोक में एक चाल है ही। तथा च जो उनकी जाति के मनुष्य जीव स्वार्थ प्रेरित उनके मत को मानने लगते; वे उनको अपने विभाग (डिपार्टमेण्ट) में नियुक्त कर लेते थे। एवं एक जाति में वेग से प्रचार हुआ।

वे ही बाबा जी सप्तमाकाशस्थ, और अल्ला गाड परमात्मा आदि सब से उच्चतम स्थापित किए गये।

उनके प्रतिनिधि उक्त बाबा शरीर के पश्चात् वे उस मत के आदि संस्थापक हुये। आगे ऐसे ही अन्य पुरुष हो रहे हैं।

ये लोक (ईश्वर) ऐसी दुष्ट शिक्षा का गुप्त प्रचार करते हैं। जो वस्तुतः अतीव भयानिका है। उपर्युक्त अन्य मतों के ग्रंथ हस्ति दन्त न्याय से दूर से पहले दिखा देते हैं। और निज मत के पूर्णतयास्वमत प्रवेश एवं यथावत् विश्वास के अनन्तर दर्शाते हैं। जो उस मत में प्रविष्ट होते हैं वे उन्हीं बाई बाबा (स्वामी) के नाम से पुकारे जाते हैं। जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये सब भी माया वादियों की नाईं मायेश्वर वा ईश्वर हो हैं।

परन्तु छोटे ईश्वर हैं, और भूतपूर्व शरीरी महदीश्वर थे जिनकी ये उपासना करते हैं।

इनकी भक्ति पूर्वजों के चित्र में चित्त लगाना, और योग नाना बाजों के शब्द सुनना है। स्त्री पुरुष दोनों सामान्यतया चेली चेले होते हैं। चेलियों के पति से भी विशेष निशङ्कतया सर्वोचितानुचित गुरु सेवा एवं आज्ञा पालन करना मोक्ष प्रद धर्म निश्चित किया गया है। यह मत भी वाम मार्ग की ही शाखा है और हेय है।

(१५) ऐसे ही अन्य सब ईश्वर वादी वक्तृत्व शक्ति को ईश्वर और अपने को स्थूल शरीर जानते मानते हैं। और किसी न किसी एक शरीर धारी जीव के उपासक हैं। प्रायः ये सब आप को ईश्वर कहा करते हैं, और ये मुंह बोले कोरे मूर्ख एवं अशक्त ईश्वर हैं [१७]

(१६) कोई महानुभाव लोकपूज्य समुदाय जगदुपकार के उत्तरदाता, जगदीश्वर को निराकार निर्विकार आदि परस्पर युक्त एवं परमेश्वरोचित सर्व गुण कर्म स्वभावों आदि को तो यथावत् सन्मानते हैं। परन्तु ओ३म् स्वरूप विषय में न्यूनान्यून ९९ प्रतिशत हन्त सन्देहावर्त्त हैं। और गुण कर्मादि अपेक्षा भी एक महती संख्या संशयात्माओं की है। इसी कारण नहीं कह सकते, कितने अन्य मतों से प्रभावित हुए हुए, मुक्तात्माओं का कार्य कारणवत् ईश्वर में मिलकर ईश्वर बनना मानते हैं। स्व-कुलों में मायावी भाष्य सिद्धान्त रूप से पढ़ाते हैं। उसे स्वाध्या-

यार्थ गुप्त रूप से स्वार्थ रखते हैं किन्तु व्याख्यान उपदेश में वैदिकता प्रकाशिता करते हैं। [१८]

ये भी प्रायः ईश्वर वाचक विश्वासी एवं वेद वाणी के, कुसंस्कारादि वश, अनभ्यासी फलतः सामान्यतया अनवगन्ता हैं, नाना प्रकार मनुष्य जीव मुख ईश्वर भाषण, एक ही मन्त्र एवं वाक्य को कई वार वेदों में देख कर कहने लगते हैं कि वेद भी पौरुषेय (मनुष्य कृत) हैं। वरन पुनरुक्ति न होती, न यह मानुषी भाषा होती।

इह यह कहना निर्भ्रान्त (प्रत्यक्ष) धर्म है कि आत्म परमात्मा ज्ञान के कारण यह सन्देह है, जब ईश्वर के यथार्थ पूर्ण ज्ञान से संसार से मुक्ति होती है तो इस सन्देह के देह से छूटना तो तुच्छ वार्ता है। अनेकं मुखता तथा अनेकार्थता ही तो अपौरुषेयता के निर्भ्रम निश्चायक हैं। सर्वज्ञकृत होने ही से तो सबकी ओर से बोले वचन रूप में है और इसी से एक मन्त्र आदि के अनेकानेक विलक्षण अर्थ हैं जिससे एक ही मन्त्र बार बार आ सकता। (देखिये प्र० सं० २३ ऋचो अक्षरे०) [१६]

पुनः कोई पुरुष इनमें ब्रह्मांश हुए मानते जगदन्तरेश्वरांश को शबल (अशुद्ध) जगद्बाह्यांश को शुद्ध मानते हैं। कोई विद्वान् मानो ब्रह्म को अदृश्य [अंधकार मय] एवं अवाक् और जीव को अचल तथा अद्रष्टा (अन्धा) समझते, अपितु सिद्ध करते हैं, कितने ब्रह्म को ऐसा वस्तु निर्धारित करते हैं कि जिसमें मिल कर जीव निकल न सके, फलतः मुक्त्यन्तर न लौटे।

उपोद्बलन वा दृढ़ी करणार्थ पुनरपि प्रवचन करते हैं कि वह सिद्धान्त, जो मर्यादेवोत्तम धर्म राजा, इनके आचार्य, ने इन सर्वोपरि विश्वास्य सज्जनों को शिक्षित कर के इन्हें अपना प्रचारक प्रतिनिधि बनाया है, सर्वोत्तम, सर्वतः सर्वथा सर्वदा विश्वव्यापक, निर्भ्रान्त, सर्वांश पूर्ण, सर्वजगदैहिका मुष्मिक अभीष्ट प्रापक है। क्योंकि उक्त लोकोद्धारक ऋषि ने जगदीश्वर को सर्वथा समर्थ, सर्वतः पूर्ण और सर्वदा पूर्ण, नित्य एकरस मुक्त सच्चिदानन्द आदि माना है जो सर्व रूपेण वेद से सासिद्ध हो रहा है, और इस पुस्तक में भी प्रदर्शित किया गया है कि वह परमात्मा सर्व जगत् को सूर्य सम तद्द्वारा चलाता, धारित करता, प्रकाशता, जीवित रखता है, और आप अचल निराधार स्वतः प्रकाश स्वयम्भू आदि है। वह मूर्खों, अनुपासकों (अपासकों) से दूर है, किन्तु उपासक आत्माओं के अत्यन्त निकट (आत्माओं के अन्तर) और उनको वह स्वतः प्रत्यक्ष साक्षात् दर्शन देकर मुक्त करता है, तद्विरुद्ध विषयोन्मत्तों को संसार चक्र में घुमाता है। अन्तिम वाक्य की निम्न ऋचा साक्षी है "अभि वेना अनूषत यक्षन्ति प्रचेतसः। मज्जन्त्यविचेतसः॥ (ऋ०९।६४।२१), अर्थात् पूर्ण विवेकी परमात्म दिदृक्षु साक्षात् अकरण योगाभ्यास करते हुए परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन रूप यजन करते हैं। और मूढ़ लोक कारावास रूपी गर्त में डूबते अर्थात् मरते जीते भ्रमते हैं और आत्म परमात्म तत्वों से कोरे अनभिज्ञ रहते हैं। ये ही आत्मा और परमात्मा को नाना त्रुटि

पूर्ण जाना माना करते हैं, अपितु स्वयं वञ्चक ब्रह्म बन कर वेदोक्त सत्य सच्चिदानन्द को स्वमतानुसार सर्व त्रुटि पूर्ण दर्शाते हैं। वास्तव में परमेश्वर सर्वतः सम्पूर्ण, और सर्वथा त्रुटि वा न्यूनता हीन है। जैसा कि प्र० ६८ और ६६ 'सत्य चर्त आकामो" से भ्रान्ति रहित प्रत्यक्ष हो रहा है। [२०]

एवं सर्व मुक्ते सति अपने सर्वोत्तरोक्त बन्धुओं के सम्बन्ध में ये ही कहना शेष है कि ये वैदिक मानी जन अपने उत्तर दायित्व का न वास्तविक मान करते हैं और नहीं यथार्थ ध्यान रखते हैं। हन्त ! इनमें ईश्वर अनुराग नहीं, उपराग मात्र प्रतीत होता है।

ये लोक पहले जगदैश्वर्य को प्राप्त करना चाहते हैं; पश्चात् वा तदन्तर जगदीश्वर से बात करना उचित समझते हैं। अर्थात् स्वामी की आज्ञा से रव नहीं लेना चाहते, वर्त्तमाना लोक नीति की सैनिक पगडंडी पर चल कर ढिठाई से न्याय विरुद्ध ले भागना चाहते हैं यह इनके प्रायः वेदानध्ययन और ओ३म् उपासना आदि के चाल ढाल से आभासित हो रहा है। परन्तु यह कब सम्भव हो सकता है, वह स्वामी सब देशी सर्व दर्शी सर्वाधार स्वयं साक्षी (रखवाला), नित्य एक रस जागृत सर्व द्वारों का स्वयं द्वारपाल और सर्व शक्तिमान् है। कोई चाल न चलेगी।

विना उसको यथावत् जाने उसकी गूढ़ा गम्भीरा शिक्षा को यह अणु स्वरूप अल्पज्ञ जीवात्मा कभी समझ नहीं सकता,

न ऐसे समझ सकता है जो कभी न भूले। और नहि सर्वदिग् विस्तृत जगत् में अनेकाग्र वृत्तिने सनिज लक्ष्य को एक रसत्व समक्ष रख सकता है।

अतएव सब संसारी जीवों के लिये अवर्जनीयता है कि प्रत्येक अभाष्ट की प्राप्ति के पूर्व से अवाप्ति वा समाप्ति यावत्, अपितु अभीप्सित भोग समय भी प्रार्थना करते हुए उस जगदीश्वर सर्व साक्षी सर्व प्रेरक की ओर शिक्षा प्राप्त्यर्थ निरन्तर ध्यान रखे' जिस से कभी और कहीं भूल न हो जावे। अस्तु [२१]

हां और भी सुनियेः—अभी एक तु ये एकपाद उपासक स्वयं भी प्रायः एकपाद से ही खुड़ला (कूद) रहे है, दूसरा पाद (अर्द्धाङ्गिनी) इनका व्यर्थ बन रहा है, दूसरे सामान्यतया इन्होंने न कुपथ्य को त्यागा है और औषधि का सेवनारम्भ किया है तिस पर वैचित्र्य यह है कि जगदाकर्षणाधीन प्रायः वेदेश्वर से उदासीन हो रहे हैं जिस का फल उपर्युक्ता न्यूनतायें हैं, मा तिष्ठन्तु। [२२].

अये ज्ञान बुभुत्सुवो ! अब नानेश्वरवाद कारण के सङ्ग विविधेश्वरों का स्वरूप उनकी व्यर्थता और सर्वनाशिका दुःखदा दुष्टता आदि का दिग्दर्शन कराके सर्वोपरोक्त (अन्तिम) निराकार निर्विकार नित्यमुक्त सच्चिदानन्द वास्तविक मोक्षप्रद वैदिक जगदीश्वर को लक्ष्य करके, साक्षात् मोक्ष साधन इस

पुस्तक के प्रकृत विषय "ओइम् प्रत्यक्ष" रूप मुक्ति सुगन्धियुता पुष्पाञ्जुलि की ओर आपका समाहित चित्ताकर्षित करते हैं।

आप देखते हैं कि सूर्य सब देख सकने वालों के लिये प्रत्यक्ष है। फिर भी कितने अनभिज्ञ उसे पृथिवी के समन्तात् (सब ओर) घूमता मानते हैं और पृथिवी को ठहरी। कितने भूमि को चपटी (चक्की के पाट सम) जानते हैं। ऐसे ही अकाश में देखे जाने वाले लोकों को केवल खिलौना (प्लेथिङ्ग) समझते हैं (देखो पाकोक्त पुस्तक "जब खुदा निकाल लेगा तारे तब आसमान में होजावेंगे झरोखे). एवमेव प्रत्यक्ष विषयक पदार्थों में भी भ्रम के उदाहरण सहस्रशः समक्ष आते रहते हैं। फिर प्रत्यक्ष माने हुए अप्रत्यक्ष पदार्थों में मत भेद वा भ्रान्ति की क्या कथनीयता!

और फिर जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष मानना एव मनवाना ही साध्य कोटि में माना अपितु निश्चित किया जा चुका हो। उसमें भ्रमवाद, सूर्य किरण वा ब्रह्माण्ड परमाणु न्याय से, जितना बहुत हो उतना ही थोड़ा है। [२३].

यतः इन भ्रान्तियों और मत भेदों के कारण प्रत्येक मतवादी का स्वयं सर्वनाश होरहा है। एक दूसरे के लिये विरोध वश विघातक प्रत्युत सब पारस्परिक द्वेष के कारण देश अपितु लोक नाशक भी बन रहे हैं। [२४].

इसलिये सत्पुरुषों को यदि परमात्मा के वास्तविक प्रत्यक्ष होने का यथार्थ निश्चय होजावे। तू दर्शन करने का भी अभ्यास

करें। और लोक सुख भोगते हुए मोक्ष आनन्द प्राप्ति के लिये आदर्श रूप से सत्प्रचारक एवं पूर्ण निष्काम परोपकारक बनने का भी उत्कट पक्ष करें। ऐसे निश्चयाभाव ही से तो संन्यासाश्रम में गृहस्थ का डङ्का बज रहा है।

आप स्यात् यह शङ्का करें कि सूर्य के प्रत्यक्ष होने पर भी तो सर्वथा सन्देह निवृत्ति नहीं होती, तब ईश्वर के दर्शनान्तर कैसे सर्व संशय कर्पूर हो जावेंगे।

इसका समाधान यह है कि सर्व जगत् अनन्य वा एक रूप कभी नहीं हो सकता न्यूनाधिक धर्माधर्म, विद्या अविद्या, सुख दुःखादि सदैव ही रहेंगे! कुतः जगत् के सर्व पदार्थ भी द्वन्द्व पूर्ण हैं हों क्यों न, जीवात्माओं में भी तो अविवेक अविद्या, कर्म और संसार (कारावास) भोग की वासनायें प्रवाह अनादि हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसा भूमिका प्रारम्भ में सिद्ध किया गया है जगत् के सब ही जड़ चेतन पदार्थ द्वन्द्व ग्रस्त हैं। निर्द्वन्द्व नित्य मुक्त स्वभाव जगदुत्तरवासी केवल एक जगदीश्वर ही है। इस लिये किसी भी शुभाशुभ पदार्थ का जगत् से सर्व नाश वा अत्यन्ताभाव कभी नहीं हो सकता। ऐसा होने से सृष्टि प्रलय आदि प्रवाहों का एवं प्रवाह आनादि पदार्थों का अत्यन्ताभाव मानना पड़ेगा, और फिर इस मत के फल रूप ईश्वर जीव एवं प्रकृति की वैयर्थ्य एवं असिद्धि भी उत्तरो करनी होगी। मास्तु [२५]

हां विद्वान् बुद्धिमान् यत्न शील पुरुषार्थी आत्माओं के अन्तः करणों में वर्त्तमान सन्देह, शङ्का एवं संशयों की छाया भी न रहेंगी, सर्वांश विनष्टा हो जावेगी, और जिस भांति जड़ सूर्य लोक विषय में कोई नेत्र हीन यह प्रश्न नहीं करता तुमने सूर्य देखा है, "बताओ कैसा है ?" ऐसे ही ईश्वर सम्बन्ध में प्रत्येक प्रष्टा की जिह्वा पर वायुवदुपस्थित यह प्रश्न कि "क्या तुमने ईश्वर देखा है' बताओ कैसा है ?" 'ओइम्' प्रत्यक्ष सिद्धि एवं सामान्य विज्ञप्ति के अनन्तर प्रायः वायवी छाया के सदृश उड़ जावेगा।

स्यात् कोई यह कहै कैसे ? उत्तर होगा "जैसे सूर्य अपेक्षा, क्यों कि नेत्र वालों की संख्या सब से अधिक है और अन्धों की थोड़ी, यदि अन्धों और नेत्र वालों की संख्या परस्पर परिवर्तिता हो जावे (बदल जावे) तो आज वह ही परमात्म प्रत्यक्ष विषयक प्रश्न, सूर्य लोक के लिये भी किरण वत् सर्वत्र फैलने (हीने) लगे। और जितने आत्म दर्शन शक्ति शून्य मिथ्या मन्यमानी आज हैं ! उतने ही आत्म परमात्म दर्शी अर्थात् निज दर्शन शक्ति सन्मानी हो जावें, तद्विरुद्ध जितने (एक द्वि) आत्म दर्शी और ईश्वर प्रत्यक्ष वादी हैं, केवल उतने अथवा अल्प संख्यक अनात्मदर्शी और ईश्वर अप्रत्यक्ष मानी रह जावें, तो सूर्य की न्यायी ईश्वर प्रत्यक्ष सम्बन्धी सन्देह के देह का प्रलय हो जावे। भवेत् ! भवेत् ! भवेत् !, [३६]

॥ ओ३म् शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!! ॥

समर्पण।

१—यह पुस्तक "ओ३म् प्रत्यक्षम्" एवं "विश्व व्यापक वैदिक नियम" तथा "देव यज्ञ" आर्य समाज फतेहपुर हंसुआ में स्थित होकर लिखी गई है। अतएव उक्त समाज के प्रधान चिरञ्जीव बाबू उमा शङ्कर जी, बाबू कामता प्रसाद जी-रईस, डाक्टर रामेश्वर दयालु जी वैद्य तथा ला० गोकुल प्रसाद जी आदि आर्य पुरुषों के शारीरिक शुभ-नामों की स्थापना इस "ओइम् प्रत्यक्षम्" मन्दिर द्वारा अग्रे धन्यवादासन पर करते हैं।

२—इस पुस्तक के प्रकाशित करने का अधिकार सार्वदैशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्लीस्थ को देते हैं। इसके परिवर्तन, परिवर्धन संशोधन अनुवाद आदि का अधिकार स्वरक्षित रखते हैं। किसी कारण यदि यह सभा कभी न प्रकाशित करसके, तो इस सभा की कोई प्रतिनिधि प्रकाशित कर सकेगी विदेशी प्रतिनिधि सभायें, प्रत्येक दशा में छापने को अधिकृत की जाती हैं।

सत्यप्रकाश वैदिक यति,

कारावास, शयन कुटि,

चतुर्विंशतपुर नवद्वार।

॥ अथ ओ३म् प्रत्यक्षम् ॥

प्रार्थना ।

ओ३म् मधुमन्मे निष्क्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥२७॥

(अथ०१।३४।३)

हे विद्या दाता जगत् गुरु जगदीश्वर ! मेरा कार्य और कारण रूपी दोनों धामों से बाहर निकलना ब्रह्म विद्या पूर्ण हो अर्थात् मैं ब्रह्म विद्या पूर्ण तथा जान कर उक्त दोनों धामों (कारा वास) से निकलूं, मेरा मोक्षधाम से पुनरावर्त्तन (लौटना) ब्रह्म विद्या से पूर्ण हो (लौटकर भी पूर्ण ब्रह्म विद्या प्राप्त करूं), ब्रह्म विद्या से भरी हुई वाणी बोलूं; और ब्रह्म के सदृश आचरण करूं जिससे ब्रह्म की सिद्धि में काठिन्य न उपस्थित हो, प्रत्युत सौगम्य होवे ॥

नमो ब्राह्मणो नमस्ते वायोत्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्, ओ३म् शांति, शांति, शांतिः [२८]

(तैत्तिरेयोपनिषद्०)

हे अत्यन्त महान् ! अनन्त स्वरूप !! जगदीश्वर!!! आपके लिये मेरा सर्वस्व अर्पित हो, हे अनन्त बली अनन्त ज्ञान क्रिया युक्त सर्व नियामक प्रभू ! मैं सर्वात्म शक्तियों से आपकी आज्ञाओं का पालन करता हुआ सिद्ध करूं कि आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं, अद्यावधि आजन्म (यावत् शरीर) यथा शक्ति आपको ही प्रत्यक्ष (सर्वथा निश्चित रूप से आत्म शक्ति से साक्षात् देख कर निश्चित किया हुआ) सर्व शक्ति और अनन्त ज्ञान सम्पन्न अनन्त स्वरूप, सर्वेश्वर कहूंगा; सर्व अज्ञानियों के प्रति आपके प्रत्यक्ष होने, अर्थात् अन्तर्वृत्ति आत्माओं से, चक्षु सूर्य सम, आपके देखे जाने का उपदेश किया करूंगा, ईश्वरीय सत्यता वेद विद्याओं का उपदेश करूंगा, वस्तु गत (मन वचन और कर्म की एकता करके) सुपरीक्षित सत्य कहूंगा अर्थात् आपके प्रत्यक्ष होने के विषय को सर्वतः सर्वथा वेद शास्त्रों के प्रमाणों तथा आत्मानुभावों एवं भगवत् साक्षात्कार के बल से सर्वजन हितार्थ सिद्ध करते हुए सत्यनिष्ठ बनूंगा। वह आपका वेदीय ज्ञान मुझे बन्धन से मुक्त करे और यह भगवत्प्रत्यक्ष विषयक उपदेश मुझे इसकी ओ३म् प्रत्यक्ष सम्बन्धी संसिद्धि सम्भाषण में सहायी हो। मुझे आत्म दृष्टि से सुरक्षित करे और मुझे अपदेशकतापेक्ष सुरक्षित करे। हे जगदीश्वर परम पिता! आधि भौतिक साम्य हो, अधिदैविक समता हो और आध्यात्मिक शाम्य वा साम्य हो ॥

॥ इति ॥

ओ३म् प्रत्यक्षम् ।

साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल ओ३म् ।

पाठक वृन्द !

(२९) द्वि प्रकार के पदार्थ संसार में सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रत्यक्ष और दूसरे परोक्ष। एवमुक्त प्रत्यक्ष की स्वीकारी में नास्तिक से नास्तिक का साहस नहीं कि नकार कर दे वा अस्वीकारी करे। हाँ लोकोक्त परोक्ष में नाना शङ्कायें मतभेद किये, कहे एवं देखे जाते हैं।

(३०) प्रत्यक्ष के ४ भेद हैं यथाः—बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष (१) अन्तरिन्द्रिय (मन) प्रत्यक्ष (२) बुद्धि प्रत्यक्ष (३) और आत्म प्रत्यक्ष (४) और प्रत्यक्ष पद के अर्थः-दर्शनीय, दृष्टिगत, इन्द्रियों अन्तःकरणों वा आत्मा से निश्चित करने वा देख कर जानने योग्य, स्पष्ट, व्यक्त, प्रकट, परिस्फुट, असंदिग्ध आदि, हैं। और परोक्ष पदार्थ द्वि भांति के हैं एक वे जो देशापेक्ष दूर हैं, दूसरे वे जो कालापेक्ष परे भूत वा भविष्यत्।

(३१) यहां साधारणतया यह दिखाते हैं कि अविद्या उच्चतम शिखिर पर पहुंच कर सर्वोपरि आसोना (बैठो) तामसानु शासन कर रही है।

देखिये इस अविद्या ही ने वेदों का अन्यथा भाष्य करके पुस्तकों का नाम वेद भी अन्यथा सिद्ध कर दिया' वेदों में वृथा गाथायें, किस्से, कहानी, असङ्गत एवं व्यर्थ इतिहास, दो दो व्यक्तियों के साधारण तथा निष्फल वार्तालाप, अश्लील बक वाद, मनुष्य वा जड़ पूजा आदि आदि नाना मूर्खता की बातें, भांति भांति के घृणित वा निन्द्य विषय वेदों में दर्शाये हैं। यथाशक्ति चारों वेद विद्या, शिक्षा और ज्ञान शून्य प्रसिद्ध कर दिये हैं;

निरुक्त में एकत्र मूलमात्र (विना अर्थ वा अनर्थ) पाठ को सार्थक और सार्थ पाठ को निरर्थक एवं अनावश्यक सिद्ध किया है।

इसी के कारण द्विजत्वाभिमानियों से वेदाध्ययन प्रायः छूट गया है। यदि कोई लक्षों में पढ़ता भी है तो मूल मात्र विना अर्थ वा व्यर्थ; यदि कोई अर्थ देखते हैं तो उस अवैदिक, वेद अयुक्त भाष्य का पाठ कर के वेदों से विरक्त हो जाते हैं, और वेदों में इतिहास, भौतिक पूजा आदि बताने लगते हैं, कोई विद्या वा ज्ञान की शिक्षा नहीं बताते। खेद !!!

प्रकृत यह है कि इस अविद्या ही की सन्तति ये नाना मत मतान्तर हैं, इसने यथासम्भव पाँच स्थूल भूतों का भी यथार्थ

बोध नहीं होने दिया है, उनके गुण, कर्म, स्वभावों का तो क्या ज्ञान; लक्षों में स्यात् कोई एक मनुष्य आकाश पद के यथावत् वाच्य (अर्थ) को जानता होगा। अन्य सूक्ष्म जड़ पदार्थों का का बोध कहां; फिर चेतन पदार्थों के तात्त्विक ज्ञान की कथा ही क्या। मास्तु।

इस घोर अन्धकार की दशा में अत्यन्त हर्ष है कि विद्या उषा फैलने लगी। वेद रूपी सूर्य उदय होगया है अब उस अविद्या निशा को तिरोहिता वा नष्टा करना ही चाहता है; और नीचे से किरण सेना द्वारा ललकार रहा है कि अरे आत्म परमात्म घातिनी अविद्ये ! मुंह सम्भाल, तूने साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष दर्शनीय स्वरूप जगदीश्वर को अदर्शनीय, केवल ज्ञान गम्य (जानने योग्य) और प्रकाश स्वरूप द्रष्टा जीवात्मा को अन्धा वा अद्रष्टा कह दिया और असाक्षात् एवं परतः प्रत्यक्ष अर्थात् नेत्र और सूर्य वा अग्नि आदि के सहाय से देखे पदार्थ को साक्षात् प्रत्यक्ष मान लिया। जिसका फल यह हुआ कि यह लोक सर्व सुख के दाता जगदीश्वर से विमुख और प्रकृति का दास होगया। और प्राकृत सुखों की प्राप्ति में निरालम्ब (ईश्वर आश्रय हीन) लगा हुआ है।

फल यह है कि अधर्म से प्राप्त पदार्थों को शारीरिक, मानसिक सुखों के सङ्ग नहीं भोग सकता। जब सांसारिक सुख ही नहीं तब मोक्षानन्द की आशा तो कोरा उन्मत्त प्रलाप है। यथा वेदोपदेशः—"यस्यच्छायाऽमृतं यस्यमृत्यु" (य० २५, ३३)

अर्थात् जिस जगदीश्वर की उपासना मोक्षादात्री है, अनुपासना मरण दुःखदा एवं प्राकृत बन्धन का हेतु है।

(३२) अतएव वेद प्रकाश एवं लोकोपकारार्थ यथा शक्ति सर्वथा समुचित एवं अतिशय आवश्यक और संक्षिप्त विचार सप्रमाण अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे प्रकृत विषय को विद्वान्, श्रीमान् सज्जन स्वयं अवगत करके निज बुद्धि, युक्ति, तथा विशेष प्रमाणों से यथा शक्ति परिपुष्ट करते हुए अन्य सामान्यजनों का उपकार करने रूप सहायता से परम यश के भागी बन सकें क्योंकि यह विषय आजकल अतिशय दुस्साध्य और अत्यन्त कठिन अवबोध्य है। परन्तु जब प्रत्येक आर्य योगी होता था तब सूर्य वत् 'ईश्वर, आत्मप्रत्यक्ष था' यदि दुर्वासु-दैवात् प्रतिशत् जितने चक्षु हीन हैं वह सब सचक्षु हो जावें और जितने देखने वाले हैं उतने थोड़े काल के लिये नेत्र विहीन बन जावें अर्थात् दोनों भांति लोक एक दूसरे के स्थानापन्न हो जावें तो सूर्य को प्रत्यक्ष कहना ऐसा ही कठिन हो जावे जितना दुस्तर आज ईश्वर को प्रत्यक्ष कहना आदि है।

जिज्ञासु सज्जनो !

जगत्, जीव, एवं ब्रह्म का तात्विक तथा स्वारूपिक विज्ञान प्राप्त होने पर उक्त विषय की सत्यता सूर्य प्रकाश में आजावेगी।

इसी प्रयोजन से इन का व्याख्यान यथायोग्य एवं यथा

शक्य स्वरूप निदर्शन तथा गुण, कर्म आदि का क्रमशः वर्णन करना अवर्जनीय है। सब से पूर्व जगत् का विस्तार संक्षेपतः सुनियेः—

प्रकृतिः ।

(३३) पहले पहल तीन प्रकार के जड़ अर्थात् सर्वथा, सर्वदा ज्ञान हीन परमाणुओं से (जिनके प्रकृति, कारण, स्वधा, उपादान, माया जड़ ब्रह्म आदि गौड़ अर्थात् संयोज्यता वियोज्यता गुण पेक्ष, एवं सामूहिक नाम हैं) महत्तत्व, ब्रह्माण्ड वा विराट् रचा जाता है (ब्रह्म बोधिनी सन्ध्या में सप्रमाण सृष्टि विषय देखिये) तत्पश्चात् बुद्धि, चित्त और अहङ्कार; अहङ्कार से मन दश ज्ञान कर्म इन्द्रियां और शब्दादि ५ सूक्ष्म भूत और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ५ सूक्ष्म भूतों से आकाशादि ५ स्थूल भूत बने।

पाँच स्थूल भूतों से सब सूर्य पृथिवी आदि अन्तरिक्षस्थ अगणित लोक और उनके वासी एवं भोक्ता जीवात्माओं के असंख्यात स्थूल शरीर रचे गये। (उपर्युक्ता सन्ध्या देखें) परमाणुओं की जड़ता सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हो सकता है कि वे ज्ञान शून्य हैं।

(३४) कार्य का गुण देखकर कारण का गुण जाना जाता है जैसे सूत्र के वस्त्र के गुण को जान रूई के गुण का बोध होता है;

अथवा मृत्तिका के घट के गुण को देख, मृतिका (मिट्टी) के गुण का; स्वर्ण के कङ्कण से स्वर्ण के गुण का ज्ञान होता है। ऐसेही पांच भौतिक स्थूल जगत् के दर्शन से ५ स्थूल भूतों का निश्चित बोध होता है।

स्थूल भूतों से उनके कारण सूक्ष्म भूतों का, उनसे अहङ्कार का, अहङ्कार से बुद्धि वा महत्तत्व का, और महत्तत्व से परमाणुओं का यथावत् विज्ञान प्राप्त होता है। वैशेषिक दर्शन में कहा है। "कारण गुण पूर्वकः कार्य गुणो दृष्टः" "कार्यात् कारणानुमानः" श्वेताश्वतर [६। १२ श्लोक] "एको वशीनिष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति....." में परमेश्वर को जगत्कर्त्ता और परमाणुओं को निष्क्रिया और जड़ कहा है। ऐसे ही "क्षरंत्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सो अन्यः। (श्वे० श्वतर ५। १) यहां भी विकारिणी एवं नाशवती अविद्या स्वरूपा (ज्ञान हीना) प्रकृति को कहा है और अमृत एवं विद्या अर्थात् सत्य स्वरूप (अनाश) तथा अल्पज्ञ जीव को और इन दोनों का स्वामी ईश्वर बताया है। एवमेव वेद में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते। ततोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" (ऋ० १। १६४। २०) यहां और ऐसे अनेकशः वेद मंत्रों में प्रकृति को जड़ (ज्ञान हीना तथा स्वतन्त्र क्रिया रहिता) और उसके कार्य को वृक्ष, रथ, गृह, नगरी, बसती आदि की उपमा से वर्णित किया है; यह प्रकृति जगत् रूपी वृक्ष की मूल और इसका कार्य जगत्

है। यही वृक्षवत् जगत् रूप में विकृति, और वृक्ष भस्म होकर मृतिका तुल्य परमाणु रूप में परिणमिता हो जाने वाली है।

वैदिक आर्यों को तो प्रकृति की जड़ता में कोई सन्देह ही नहीं, अन्यों के लिये उन की निज की भाषा में यह प्रत्यक्ष का विषय है और इस लिये असन्देह्य वा असन्दिग्ध है।

(३५) जगत् के पदार्थों को नेत्रों से देखकर कह सकते हैं कि ये ज्ञान हीन हैं। परन्तु कठिनता यह है कि प्रथम तो पृथिवी (मिट्टी) जल, अग्नि ये तीनों पदार्थ मूर्त्त स्वयं सावयव कार्य (बने हुए) एवं स्वयं भी साकार और भौतिक कार्य रूप वाले हैं, तथा नेत्र दृश्य। शेष वायु आदि महत्तत्व पर्यन्त २२ पदार्थ अमूर्त्त, स्वयं सावयव आकार और बने हुए, पर भौतिक कार्य रूप हीन, केवल अति सूक्ष्म तात्विक रूपवाले, फलतः बुद्धिमात्र से दृश्य किन्तु नेत्र अदृश्य हैं। और मूल प्रकृति वा परमाणु पदार्थ समूह अमूर्त्त, निरवयव, स्वयम्भू आदि कारण, आकार युत, कारण रूप वाले, करण अदृश्य, आत्मदृश्य हैं।

दूसरे ध्यान उपासना के न करने से जीवात्माओं को इतना भी पूर्वापर (आगे पीछे का) विचार नहीं होता कि मृतक शरीर और जीवित में क्या भेद है यदि यही भी विचारते हैं तो जान लेते हैं कि लकड़ी पत्थर, की भाँति यह देह भी जड़ है; जब तक इसमें जीवात्मा रहा यह देह सब क्रियाओं का साधन रहा, अब किसी का भी नहीं।

जो लोग चक्षु-प्रत्यक्ष*पदार्थों को ही मानते हैं; उन्हें निज नेत्र विना दर्शन, वायु एवं प्राण विना जीवन स्वीकृत करना चाहिये और उपर्युक्त पदार्थों की अस्वीकारी जो कि वे नहीं कर सकते, तथैव अनिवार्य होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाञ्चों विषयों, दशों ज्ञान कर्मेन्द्रियों और चारों (मन, अहङ्कार, चित्त और बुद्धि) अन्तःकरणों को विवश; अङ्गीकृत करते हैं क्योंकि शब्द के अभाव में न किसी पदार्थ का श्रवण होगा और न उसका ज्ञान, एवं स्पर्श के विना न स्पर्शन क्रिया होगी और नहीं स्पर्श द्वारा किसी वस्तु का बोध होगा। तथैव रूप के अभाव में दर्शन द्वारा परिचय असम्भव होगा, ऐसे ही रस और गन्ध न रहने से स्वाद और घ्राण द्वारा होने वाले विज्ञान भी न होंगे। एवमेव ज्ञान इन्द्रियों के न होने से किसी भी वस्तु का ज्ञान न होगा और कर्म इन्द्रियों के विना कोई भी कर्म न होगा; यह ही कारण है कि जब मरने पर स्थूल देह में से सूक्ष्म और कारण शरीर सहित जीवात्मा निकल जाता है तब शव के

*अङ्गः—प्रत्यक्ष पद का रूढार्थ नेत्र से देखने का है। एवं दृष्ट वा प्रत्यक्ष कृत पदार्थ की सत्ता (एकजिसटेंस=होने) में कोई सन्देह नहीं रहता, पूर्ण निश्चय हो जाता है; अर्थात् प्रत्यक्ष का अर्थ वा पर्याय निश्चय है। अतएव कोशों में प्रत्येक इन्द्रिय वा करण के निश्चय को प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, घ्राण, रसना एवं मनादि करणों के निश्चय को प्रत्यक्ष कहते हैं। (देखो ११ सं० प्र० २३३ सत्यार्थप्रकाश मर्यादादेव दयानन्द ५ स्थूल भूतों को प्रत्यक्ष मानते हैं).

गोलक आंख, कान, नाक, मुख, हाथ पांव आदि किसी भी प्रकार, कर्त्तव्य व्यवहार के साधन नहीं हो सकते; और मृतक देह को देखकर सिद्ध हो जाता है कि स्थूल देह कार्यालय है और सूक्ष्म तनू यन्त्र।

यदि मन को न मानें तो सुख दुःख इच्छा द्वेष का कुछ साधन नहीं, चित्त की उररी न करें तो चिन्तन वा स्मरण न होगा; एवं अहङ्कार विहीन अभिमान वा निज पर का बोध न होगा और बुद्धि आत्मा का सारथी तथा विवेचन और निर्णय का द्वारा है उसकी ऊरी न करने में सर्वस्व नष्ट हो जावेगा। इन मनादि का चतुष्टयत्व एवं पार्थक्य (ब्रह्मबोधिनी सन्ध्या में सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है वहां देखें).

यथा दश इन्द्रियां अपना अपना कार्य देती हैं तथैव चारों अन्तःकरण निज निज धर्म के धारक हैं अन्य के नहीं जैसे नेत्र से श्रवण, कर्ण से दर्शन और त्वचा से सूंघना नहीं हो सकता; ऐसे ही मन पदार्थ से धर्माधर्म का निर्णय एवं निश्चित दर्शन, और बुद्धि पदार्थ से सुख दुःख का अनुभव, स्पष्ट दर्शन नहीं हो सकता।

(३६) फिर बुद्धि दृष्ट पदार्थ सावयव और अनित्य होते हैं, (बुद्धि सिद्धन्तु तदसत्, न्याय० ४।१।५०.) अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि से सिद्ध होता (देखा जाता) है वह अनित्य होता है। इसी कारण निरवयव नित्य परमाणु बुद्धि से नहीं देखे जा सकते आत्मा स्वयं अकरण देख सकता है। परमाणुओं के करणों से

न देखे जाने में और प्रमाणः—"सेना वनवद्ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्" (न्याय०२।१।३६), अर्थात् परमाणु इन्द्रियादि करण द्रश्य वस्तु नहीं हैं, परमाणुओं के निरवयव होने में प्रमाणः—"निरवयवत्वादहेतु । (न्याय० ४।१।४३) अर्थात् परमाणुओं का कारण मानना युक्ति शून्य है क्योंकि वे अखण्ड हैं, अन्यच्चः "परं वा त्रुटेः" (न्याय०४।२।१५) अर्थात् परमाणुओं के खण्ड नहीं हो सकते, प्रकृति के स्वयम्भू होने में प्रमाणः—"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । (श्वेता०४व०४।५) अर्थात् स्वयम्भू प्रकृति लाल, श्वेत और काली तीन प्रकार की नाना विधि जगत् के पदार्थों की जननी है"।

दर्शनीय जगत् के कारण परमाणु अवश्य दर्शनीय होने चाहिये । और जब करणतः नहीं देखे जाते तो फिर आत्म द्रष्टि ही हो सकते हैं । वह जीवात्मा चेतन (ज्ञानवान्) होने से सब क्रियाओं का साधक है ।

(३७) जीवात्मा कर्त्ता और इन्द्रियादि करण होने ही से तो यह कहा जाता है कि यह पदार्थ अमुक समय देखा था पुनः अमुक (अन्य) समय इसी को चखा था, यह वह ही मनुष्य है जो दो वर्ष पूर्व देखा था आदि, इसी प्रकार चारों अन्तःकरणों के भिन्न २ काय भिन्न कालों पर भी एक ही वा पृथक् २ पदार्थ सम्बन्धी निश्चित किये जाते हैं जैसे गत वर्ष एक मनुष्य से मन को दुःख पहुंचा द्वितीय से द्विवष पूर्व सुख मिला, चित्त से दोनों का अब स्मरण हुआ, अब से पहले दुःख देने वाले

क्षमा मांग कर मैत्री करली थी अतः अहङ्कार से यह अभिमान हुआ कि वह मित्र है परन्तु बुद्धि द्वारा जीवात्मा ने निर्णय किया कि मैत्री बनावटी है; दूसरे सुख दाता से कभी कष्टक भी हो चुका था, अहंकार से उसको उदासीन (न शत्रु मित्र) कहा गया, तब बुद्धि से जीव ने निश्चित किया कि यह उसका स्वभाव है कि उदासीन प्रतीत हो, पर वह सन्मित्र है ।

यदि प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता एक ही आत्मा न होता तो यह उपर्युक्त निश्चय करना असम्भव होता । इससे सर्व श्रवण, स्पर्शन, दर्शनादि बाह्य क्रियाओं एवं चिन्तन, विवेचन, अभिमानादि अन्तर् कारों अर्थात् २४ शारीरिक, मानसिकादि बाह्यान्तर क्रियाओं का कर्त्ता चेतन जीवात्मा के अतिरिक्त कोई जड़ वस्तु नहीं हो सकता जैसा कि निम्न प्रमाणों से सिद्ध है, "करण त्रयोदश विधमवान्तर भेदात्" (सां०२।३८)" अर्थात् दश इन्द्रियां और तीन अन्तःकरण ये तेरह (१३) करण होते हैं; इससे भी "करणत्वमिन्द्रियाणां कर्तृत्वञ्चात्मनः" सिद्ध है कि इन्द्रियां और अन्तःकरण क्रियाओं के साधन हैं और कर्त्ता केवल जीवात्मा है । अन्यच्च "आत्म संयोग प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" "हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म" (वैशेषिक०५।१।१,२) अर्थात् आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ से क्रिया होती है तथा आत्मा और हाथ के लगने से मूसल से क्रिया होती है ।

सार्थक क्रियायें तो ज्ञानी वा ज्ञान के अभाव में हो ही कैसे

सकें, निरर्थक छींक, डकार, जम्भाई आदि भी तो जीवात्मा रहित शरीर (शव) नहीं कर सकता"

जीवः-

(३८) जीवात्मा स्वयम्भू (स्वयं सिद्ध, अनादि), सब दिव्य शक्ति युत, प्रकाश स्वरूप, ईश्वर सम्पत्ति में सर्वोत्तम, (१) अजन्मा (२) अमर (अविनाशी) (३), अजर, नित्य, दुःखी, सुखी (४), अल्पज्ञ (५), निराकार (असङ्ग) न जुड़ने वाला) (६), बद्ध, मुक्त, त्रिप्रकार कर्म कर्त्ता (७), द्रष्टा, दृश्य, दर्शनीय (८), नित्य स्वाभाविक ज्ञान-प्रयत्न युक्त अर्थात् स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मोक्षादि सब अवस्थाओं में जागरूक (ज्ञानयुत), और क्रियावान (९), ईश्वर संख्यात (गिने हुए) (१०), स्वतन्त्र कर्त्ता, परतन्त्र भोक्ता (११) अवतार एवं मुक्ति से लौटने हारा कर्म, उभय भोग त्रियोनि धारी (१२), निष्काम कर्म एवं योग से मुक्तभू, मोक्षाश्रम में ईश्वर सहवासी और आनन्दानुभवी (१३), देव यज्ञ सम ब्रह्म यज्ञ कर्त्तव्यतायुत (१४), स्वभाव से सदा चलने वाला (१५), चेतन, अणु परिमाण (अत्यन्त छोटा) (१६) रोम (बाल) की नोक के दश सहस्रवें भागसा (१७) शरीर नेता मन से अतीव-तर (अधिक शीघ्र चलने हारा) (१८), पवित्र एवं अतिशयोत्तम स्वरूप, दश इन्द्रिय दश प्राण और चारों अन्तःकरणों का चलाने वाला (१९) अल्प यत्न तीव्रगामी, असंख्य वार वेद पढ़ चुकने

हार (२०), बिजुली समान गरजने वाला, तीन (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) देह वाहक (ढोने व धारण करने हारा) दर्शनादि कर्म अकरण कर्त्ता (२१) विवेकी, अविवेकी, विवेक एवं योगा-भ्यास से साक्षात् ईश्वर दर्शक (२२) ईश्वर दर्शनाभ्यासी आत्मा के लिये साक्षात् ब्रह्म दर्शन एवं ईश्वर उपदेश से यथार्थ वेद, ईश्वर का ज्ञान मुक्ति प्रदाता होता है; वरन वेद अध्ययन निष्फल है (२३), यथा योनि विविध भाषा भाषी, और नाना विभिन्न दुःख, सुख मानने वाला (२४); सत्य स्वरूप एवं कूट (गूढ़—स्वरूप) स्थ, तृणादि पशु यावत् शरीरों में बहुत वास करने हारा, अविवेक से जड़ाभिमानी (२५), त्रिधाम गामी, मुक्त होकर तीसरे ज्योति स्वरूप धाम में प्रवेश करने वाला, जगत् में जागृतादि तीन अवस्थास्थ (२६) महारात्रि में केवल सुषुप्त (२७), मोक्षधाम में स्वेच्छा पूर्वक अकरण विचरने वाला (२८) निज स्वरूप दर्शक, अत्यन्त मनोहर स्वरूप, देह में विचरने एक देह से देहान्तर में जाने वाला, सुषुप्ति समाधि में प्राणों को नियम से चलाने हारा, और बिना इन्द्रियों और अन्तःकरणों के बाह्य अन्तर, का बोध रखने हारा, (२९), अनेक बल युक्त (३०); उन्मेष, निमेष, श्वास, परिश्वास, छींक, डकार, जम्भाई, खांसी, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन, गन्धन, भाषण, खान, पान, ग्रहण, गमनागमन, मलत्यजन, आनन्दन वा मूत्र करण, अभिमान, स्मरण, इच्छा, द्वेष एवं सुख दुःख ज्ञान, विवेचन, संयोग, विभाग आदि नित्य बाह्यान्तर सर्वज्ञान तथा क्रिया सामर्थ्य युक्त है, (३१),

जीवों की अनेकता (३२), ४ प्रकार की जीवों की उत्पत्ति (३३), पहले पुरुष को गर्भ होना, (३४), मुक्त पुनरावर्त्त का वेद पढ़ना (३५), गर्भ में असंख्य योनि का ज्ञाता (३६)

१—"स्वाङ् कृतोसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्ट्र स्वाहात्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवांशो यस्मैत्वेड़े तत्मत्यमुपरिप्रुता भङ्क्ष्येन हतो सौफट् प्राणाय त्वा व्यानायत्वा ॥ [य० ७।३],

भाषार्थः—हे सूर्य सम प्रकाशमान दिव्य जीव, तू समस्त अच्छे गुण युत जगत् के पदार्थों में सर्वोपरि किरणों के समान रक्षा करने वाली चक्षु आदि इन्द्रियों और वायु आदि उत्तम वस्तुओं के भोगार्थ तू स्वयंसिद्ध, (स्वयम्भू) है तू निर्भ्रान्त ज्ञान वेद वाणी को प्राप्त हो। हे श्रेष्ठ गुणी होने वाले तू जिस सर्व प्रकाशक, चराचरात्मा जगदीश्वर को पाने के योग्य है, उस सर्व उत्तम गुण कर्म स्वभाव एवं स्वरूप से नित्य एक रस रहने हारे को प्राप्त कर (मिल) सर्वोत्तम उत्कर्ष पाने हारे तू ने उस सर्व नाशिका अविद्या को विचार रूपी मर्दन से झट नष्ट कर दिया, तुझे उत्तम जीवन के लिये उत्साहित करता हूं। तुझे नाना सुखों के अर्थ उत्तेजित करता हूं॥ (य० ७।३)।

सारः—स्वयम्भू, ज्योति, दिव्य शक्तियुत, सर्वोत्तम ऐश्वर्य जीव है।

भावार्थः—जीवात्मा में इन्द्रियों से प्रकट होने वाली सब दर्शनादि दिव्य शक्तियाँ हैं। वह स्वयम्भू, ज्योति स्वरूप और जगत् में ईश्वर की सर्व ऐश्वर्य से उत्तम है। यथावत् वेदवाणी को जानकर सर्व निर्भ्रान्त ज्ञानों से सम्पन्न होता है। उपासना से सर्वा त्रुटियों को नष्टकर संसार सुख भोगता हुआ, ओ३म् को प्राप्तकर मुक्त होजाता है (य० ७।३)

२—"अजो अग्निरजेसु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणेदयमाहुः। अजस्तमांस्यपहन्त दूरमास्मल्लोके श्रद्धानेन दत्तः॥ [अथ० ९।५।७]

भाषार्थः—अजन्मा जीवात्मा प्रकाशक एवं संयोजकादि अग्निवत् [शरीर में है]। इस ज्ञान क्रिया शील जीवात्मा ही को [शरीरान्तर्] ज्योति कहते हैं, यह शरीर नेता (चालक जीवात्मा) शरीर के सहित परमात्मा के अर्पण होने योग्य एवं दया का पात्र है। श्रद्धा पूर्वक आपको ईश्वर अर्पित कर देने से यह पुरुषार्थी जीवात्मा इसी शरीर (जन्म) में सर्व अविद्या अन्धकारों को नष्ट कर (दूर फेंक) देता है॥ [अथ० ९।५।७)

सारः—जीव अजन्मा, ज्योति, देहनेता स्वाभाविक गतियुत आदि है।

भावार्थः—जीवात्मा, अजन्मा, स्व सत्ता ज्ञानी सक्रिय, प्रकाश स्वरूप है । जब आप को परमेश्वर के अर्पण कर देता है, तब इसका सब अज्ञान नष्ट हो जाता है । (अथ० ९ । ५ । ७).

३—"वायुरनिल ममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर ॥ [य० ४० । १५].

भावार्थः—इस (संसार) में वायु के आश्रय नित्य क्रिया शील प्राण रहते हैं । प्राण के आश्रय अमर आत्मा है । परन्तु यह स्थूल शरीर आत्मा की हिंसा का साधन और क्रिया-प्रकाश एवं भोग-प्राप्ति का द्वारा तथा नाशवान् और अन्त में भस्म कर देने योग्य है । अतः हे जीव तू ! सर्व व्यापक, सर्वरक्षक जगदीश्वर का ध्यान कर, अपनी सामर्थ्य के लिये परमेश्वर एवं आत्म स्वरूप का चिन्तन कर, अपने किये हुये कर्मों का विचार कर ॥ (य० ४० । १५).

सारः—जीव अमर है, देह उसका वास स्थान (गृह) है ।

भावार्थः—आत्मा अमर, अविनाशी है । और शव का सुगन्धादि द्रव्यों के सहित केवल दाह करना चाहिये, अन्यथा कदापि न छोड़ना, न विना सुगन्धादि के कभी भस्म करना धर्म है । मरण वेला में जीव को परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि भगवन् ! अब आगे मुझे ऐसा शरीर एवं

[illegible] पितादि जन समूह प्राप्त करावें कि मैं शुभ कर्म ही [illegible] ॥ (य० ४० । १५).

४—"नूचित्सहोजा अमृतो नितुन्दते होता यद्दूतो अभवद्विवस्वतः । विसाधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति ॥ [ऋ० १ । ५८ । १]

भावार्थः—हे जड़ाभिमानियो ! जो बिजली सम स्वतः प्रकाश, नाश रहित, बल उत्पन्न करने हारा, शरीर एवं यानादि [illegible] से चलने वाला, कर्म फलों का भोक्ता, जड़ प्रकाशों में चेतन प्रकाश है वह कारण सूक्ष्म और स्थूल देह रूपी वास स्थानों द्वारा पृथिवी, सूर्य आदि लोकों के बनाने वाले प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के मध्य (अन्तर) वर्त्तमान होकर कर्म फल से [illegible] नीची योनियों में पीड़ित होता है और प्रत्येक योनि [illegible] नाना कर्म करता हुआ स्वकर्मानुसार योनियों को धारण करता है (यह जीवात्मा है ऐसा जानो) ॥ (ऋ० १ । ५८ । १).

भावार्थः—मनुष्यादि स्थूल देह एवं सूक्ष्म देह (प्राण + [illegible] + अन्तःकरणादि) और कारण तनु (एक परमाणु) ये [illegible] देह जीव के निवास स्थान जड़ हैं, यह जीव चेतन, ज्योति स्वरूप, स्वरूप से अमर, अजर, एवं नित्य है । अनेक बलयुत सब क्रियाओं का कर्त्ता, शुभाशुभ कर्मानुकूल उत्तम (मनुष्य

और मोक्षानन्द अनुभाव पिता होने से जीवों का सत्यता एवं अत्यन्त हितैषा है।। (अथ० १०।८।२५).

७--"प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् विग-
च्छति। अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन
निषेवते ॥ [अथ० ११।८।३३]

भाषार्थः—मरने से पहले (जीवन काल में), तीन प्रकार की भिन्न भिन्न चालों (कर्मों) से मरने पर विविध योनियां जीवात्मा पाता है निष्काम कर्मों के करने से जगत् से परे (ऊपर) मोक्षधाम को प्राप्त करता है। हिंसादि दुष्ट कर्मों से भोग योनियों (पशु आदि) में जाता है। और पुण्य पाप दोनों प्रकार के कर्मों के करने से मनुष्य देह में नियम से रहता है।। (अथ० ११।८।३३)

भावार्थः—सकाम कर्म कर्त्ताओं से सर्वथा पाप नहीं छूट सकते। दोनों भांति के शुभाशुभ कर्म होते है। ऐसे मिश्रित कर्मों का फल उभय (कर्म भोग) योनि, मध्यम मनुष्य देह मिलना है। सर्वथा पूर्ण पुण्य निष्काम कर्मों का फल मिलता नहीं इस कारण कर्त्ता मुक्त होजाता है। परन्तु वेद विरुद्ध कर्म हिंसादि के कर्त्ता आत्मा को केवल भोगयोनि पशु आदि शरीर में जाना पड़ता है। उत्तम मनुष्य देह वा कर्म योनि (पूर्व भोग हीन) मुक्ति से लौटने वाले आत्माओं को ही सृष्टि के आरम्भ में मिलती है॥

सारः—३ कर्म, उभय एवं भोग योनि, ३ प्रकार कर्म, जीव बद्ध और मुक्त।

८—"आत्मानं ते मनसाराद जानामवो दिवा
पतयन्त पतंगम्। शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभि
ररेणुभि र्जेहमानं पतन्ति ॥ [य० २९।१७]

भाषार्थः—हे जानने के इच्छुक विद्वान आत्मन्! जैसे मैं (आत्मा) तुझ आत्मा को नीचे से सूर्यकी ओर अन्तरिक्षमें उड़ते हुए, वा जगत् से प्रकाश धाम के समीप को प्रकाश स्वरूप ब्रह्म से सुरक्षित (आलिङ्गित) हुए चेष्टा करते हुए आत्म ज्ञान शक्ति से अकरण जानता हूं; ऐसे तू भी मुझ आत्मा को जान। और जिस प्रकार परमाणु रहित सुगम मार्गों से मैं (जीवात्मा) इस शरीर के अधिष्ठाता आत्मा को चेष्टा करते और उन्नत होते हुए स्वतन्त्र देखता हूं; वैसे ही तुम आत्मा भी (स्वदर्शन शक्ति से) देखो। (य० २९।१७).

भावार्थः—योगस्थ आत्मा स्थूल शरीर को किसी एकान्त गुफा (गुप्त स्थान) में सुरक्षित छोड़कर सूर्य आदि लोकों को निमेषमात्र में जा सकता है वा पृथिवी से मरकर योगाभ्यास के फल रूप मुमुक्षु आत्मा सूर्य लोक को प्राप्त हो सकता है और वहाँ मोक्ष धाम को जाता है। इन सूर्य एवं मोक्षाश्रम के मार्गों में अन्य योगी आत्मा विज्ञान से जान सकता है। और आत्म स्वरूप को देख सकता है॥

सारः—योगी का सूर्यादि में में जाना आना, अन्ययोगियों की गतिजान लेना तथा स्वस्वरूप वा अन्यात्म स्वरूप को भी देखना । स्व (आत्म) शक्ति से देख सकना ॥ (य० २६।१७)

८—"अग्नि र्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमुसामानि यन्ति । अग्निर्जागार तमयꣳ सोम आह तवाहमास्म सख्ये न्योकाः ॥ [सा० २१। २।६,१]

भाषार्थः—अग्नि तुल्य प्रकाश जीवात्मा चेतन (जागरूक) नित्य स्वाभाविक ज्ञान और प्रयत्न युत है । उसे ऋचायें चाहती हैं वह ही सर्वदर्शक, दृश्य जीवात्मा जान सकता है उसको ही साम मन्त्र प्राप्त होते हैं । वह ही मन्त्र एवं अर्थ द्रष्टा जीव नित्य चेतन है उस स्वस्वरूपज्ञ को यह सर्वोत्पादक शान्ति स्वरूप ब्रह्म बोला, "हेचेतन, प्रकाशस्वरूपादि समान प्रसिद्ध वाले शुद्ध स्वरूप जीवात्मन् ! हम तेरा नित्य निवास स्थान हैं ॥ (सा० २१।२।६।१).

भावार्थः—जीवात्मा सुषुप्ति, समाधि में भी अर्थात् बन्धन काल के प्रत्येक निमेष में नित्य और ऐसे मोक्ष समय में सदैव स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया युत रहता है अर्थात् कुछ न कुछ जानता और करता रहता है । सर्वथा ज्ञान और क्रिया हीन जड़ कभी नहीं होता । क्रिया हीन तो द्रव परमाणु भी नहीं हो सकते

जैसा अन्यत्र इसी पुस्तक में दिखाया है । जो जीव स्वस्वरूप को यथार्थ जानकर परमात्म स्वरूप को जान लेता है उसको वेदार्थ प्रत्यक्ष होजाते हैं, गूढ से गूढ विषय प्रकाशित होजाता है, वह ऋषि कहाता है । स्वरूप दर्शी परमात्म दिदृक्षु एवं दर्शक जीवात्मा का आधार परमात्मा ही निश्चित हो जाता है, जड़ वस्तुयें नहीं ॥ (सा० २१।२।६।१)

सारः—जीवात्मा नित्य जागने हारा (चेतन) अग्नि स्वाभाविक ज्ञानप्रयत्न युत है । इस मन्त्र से सब बुद्धि चक्षु जनों को प्रत्यक्ष होता है कि जीव ऋषि, दर्शक, दृश्य वा द्रष्टा और प्रकाश स्वरूप है । (सं० २१ । २ । ६ । १)

१०—"सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनाना क्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि ॥ [अथ० ४। १६ । ५]

भाषार्थः—अत्यन्त सत्करणीय, सर्व दर्शक एवं प्रकाशक जगदीश्वर उन सब पदार्थों को नित्य निरन्तर एक समान देखता है जो दोनों ब्रह्माण्डों के अन्तर एवं जो बाहर हैं । प्राणियों की प्रत्येक क्रिया (पलक मारना तक) वह जगदीश्वर गिनता रहता है । हिंसा कर्मों (हिंसकों) को ऐसे ही गिराता है जैसे हारा उवारी पाँसों को ॥

सारः—योगी का सूर्यादि में में जाना आना, अन्ययोगियों की गतिजान लेना तथा स्वस्वरूप वा अन्यात्म स्वरूप को भी देखना । स्व (आत्म) शक्ति से देख सकना ॥ (य० २६।१७)

८—"अग्नि जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति । अग्निर्जागार तमयꣳ सोम आह तवाहमास्मि सख्ये न्योकाः ॥ [सा० २१। २।६,१]

भाषार्थः—अग्नि तुल्य प्रकाश जीवात्मा चेतन (जागरूक) नित्य स्वाभाविक ज्ञान और प्रयत्न युत है । उसे ऋचायें चाहती हैं वह ही सर्वदर्शक, द्रष्टा जीवात्मा जान सकता है उसको ही साम मन्त्र प्राप्त होते हैं । वह ही मन्त्र एवं अर्थ द्रष्टा जीव नित्य चेतन है उस स्वस्वरूपज्ञ को यह सर्वोत्पादक शान्ति स्वरूप ब्रह्म बोला, "हे चेतन, प्रकाशस्वरूपादि समान प्रसिद्ध वाले शुद्ध स्वरूप जीवात्मन् ! हम तेरा नित्य निवास स्थान हैं ॥ (सा० २१।२।६।१).

भावार्थः—जीवात्मा सुषुप्ति, समाधि में भी अर्थात् बन्धन काल के प्रत्येक निमेष में नित्य और ऐसे मोक्ष समय में सदैव स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया युत रहता है अर्थात् कुछ न कुछ जानता और करता रहता है । सर्वथा ज्ञान और क्रिया हीन जड़ कभी नहीं होता । क्रिया हीन तो द्रव परमाणु भी नहीं हो सकते

जैसा अन्यत्र इसी पुस्तक में दिखाया है । जो जीव स्वस्वरूप को यथार्थ जानकर परमात्म स्वरूप को जान लेता है उसको पदार्थ प्रत्यक्ष होजाते हैं, गूढ से गूढ विषय प्रकाशित होजाता है, वह ऋषि कहाता है । स्वरूप दर्शी परमात्म दिदृक्षु एवं दर्शक जीवात्मा का आधार परमात्मा ही निश्चित हो जाता है, जड़ वस्तुयें नहीं ॥ (सा० २१।२।६।१)

सारः—जीवात्मा नित्य जागने हारा (चेतन) अग्नि स्वाभाविक ज्ञान प्रयत्न युत है । इस मन्त्र से सब बुद्धि चक्षु जनों को प्रत्यक्ष होता है कि जीव ऋषि, दर्शक, दृश्य वा द्रष्टा और प्रकाश स्वरूप है । (सं० २१ । २ । ६ । १)

९०—"सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनाना भक्षानिव श्वघनी निमिनोति तानि ॥ [अथ० ४। १६ । ५]

भाषार्थः—अत्यन्त सत्करणीय, सर्व दर्शक एवं प्रकाशक जगदीश्वर उन सब पदार्थों को नित्य निरन्तर एक समान देखता है जो दोनों ब्रह्माण्डों के अन्तर एवं जो बाहर हैं । प्राणियों की प्रत्येक क्रिया (पलक मारना तक) वह जगदीश्वर गिनता रहता है । हिंसा कर्मों (हिंसकों) को ऐसे ही गिराता है जैसे हारा ज्वारी पाँसों को ॥

सारः—जीवात्माओं की संख्या परमेश्वर जानता है। जीव स्वयं नहीं। (अथ० ४।१६।५)

भवार्थः—सर्वद्रष्टा एवं एकरस नित्य जागरूक परमात्मा जगत् के अन्तर और बाहर निरन्तर व्यापक हैं। इसलिये जगत् के सब लोकों (प्रथम धाम) को, उनके अन्तर बाहर के सब पदार्थों (स्थूल एवं सूक्ष्म) को एवं शरीरी जीवों आदि को, और कार्य जगत् के बाहरी सर्व परमाणुओं (द्वितीय धाम) को, तथा स्वस्वरूप (तृतीय धाम) स्थ सर्व मुक्त जीवों को नित्य निरन्तर समान भाव से देखता और जानता रहता है। सब जीवों की संख्या जानता है, प्रत्येक की प्रत्येक क्रिया उसकी गिनी रहती है॥ (अथ० ४।१६।५).

११—"कोऽदात्कस्मा अदात् कामोऽदात् कामा-
(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७)
यादात्। कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामैतत्॥
(८) (९) (१०) (११) (१२) (१३) (१४)
[य० ७।४८]

भाषार्थः—कौन कर्म फल देता है, किसको देता है? (उत्तर) सब का अभीष्ट परमेश्वर स्वन्याय मयी इच्छानुसार देता है। यथा रुचि स्वतन्त्र कर्त्ता जीवों के लिये देता है। योगियों का परमेष्ठ, फल देने में स्वतन्त्र परमेश्वर देने वाला है। स्वकामनानुसार स्वतन्त्र कर्त्ता जीव ग्रहण करने हारा हैं। हे कामना करने वाले जीवों तुम्हारे लिये यह ज्ञान मैंने वेदों द्वारा दिया है॥

सारः—जीव स्वतन्त्र कर्त्ता, परतन्त्र भोक्ता हैं॥ (य०७।४८).

भवार्थः—जीवों का स्वभाव कर्म करना, ईश्वर का शील फल देना है। जिन कर्मों का फल मिलता है उनके करने में जीव स्वतन्त्र है; किन्तु जिन कर्मों के द्वारा वह फल मिलता है। उनके करने में ईश्वरेच्छा अनुवर्त्ती रहते हैं। (य० ७।४८).

१२—"असुर्या नामते लोका अन्धेन तमसा
(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७)
वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्म
(८) (९) (१०) (११) (१२) (१३) (१४)
हनो जनाः॥ (य०४०।३)
(१५) (१६)

भाषार्थः—जो लोक पृथिवी, चन्द्रादि अश्विन्यादि नक्षत्र यावत् एवं शूद्रादि वृक्ष तृण यावत् घोर (दृष्टि वा बुद्धि बाधक) अन्धकार वा अविद्या से आवर्त्त (ढके) हैं वे निश्चय ज्ञान हीन प्राण रक्षक आत्माओं के वासार्थ हैं। उन पर वा उनमें मरने के पीछे वे लोक अर्थात् आत्मा जाते हैं जो कोई आत्म घाती (ध्यान हीन, आत्म विरुद्ध अधर्म, मिथ्या आचरण करने वाले) देही होते हैं॥ (य ४०।३),

भावार्थः—लोक (दर्शने, ज्ञाने, प्रकाशेच=देखना देखा जाना दिखाना, जानना जनाना जाना जाना और प्रकाशित होना प्रकाशित करना प्रकाशित किया जाना) में घञ् वा अच् लगने से लोक शब्द बनता है और इसके अर्थ देखा जाने, देखने, दिखाने, जानने, जताने, जाना जाने, तथा चमकने, चमकाने

वाला परमेश्वर तथा जीव पदार्थ, और ऐसे ही देखे जाने एवं प्रकाशित (चमकीले) किये जाने वाले एवं प्रकाशयुत सर्व सूर्यादि लोक तथा जगत् के सर्व अन्य पदार्थ हैं।

दण्ड रूप अन्धेरे लोक वा तामसी (अविद्यामय) शरीर में आने से सिद्ध है कि प्रकाशित लोक से आते हैं। सूर्य एवं वेदज्ञ ब्राह्मणादि प्रकाशित लोक हैं। और मन्त्रार्थोक्त पृथिवी आदि अन्धेरे वा तामसी लोक वा शरीर हैं।

सूर्य अपने ब्रह्माण्ड के पृथिवी आदि ३६ लोकों से स्वस्थिति एवं गुणापेक्ष उच्च है। और ब्राह्मणादि वर्णस्थ जन स्वगुण, कर्म स्वभावापेक्ष शूद्रादिकों से उच्च हैं। अतएव जो पापात्मा सूर्यादि उच्च स्थानों से पृथिवी आदि पर, अथवा उत्तम ब्राह्मणादि के शरीरों से शूद्रादि कुल में एवं पशु आदि तृण यावत् देहों में नीचे उतारे जाते हैं वे "अवतार" कहाते हैं। 'अव, उपसर्ग का अर्थ नीचे कहा है। 'तृ' धातु के अर्थ कूदना और तरना अर्थात् जाना है। (अव तृ कर्तृ अच्) से अवतार पद सिद्ध होता है जिसका मुख्य अर्थ उतरने वा उतारा जाने वाला है। इस अर्थ में किसी संस्कृतज्ञ को सन्देह लव नहीं हो सकता क्योंकि 'अवतृ' के उपर्युक्त उभयार्थ प्रतिपादक (साधक) दशों प्रमाण अन्यत्र उपस्थित हैं जैसे "रथादवततार च" (रघुवंश० १।५४), "कदैतदवतरिष्यति चक्रं मस्तकात्" (पञ्चतन्त्र ५), ऐसेहि (शिशु० १।१), (प० १), (शकुन्तला ७।३), (का० २८६।१५१), (शि०६।३२) आदि आदि में, यहाँ उतरना, नीचे आना अर्थ है। अब उतारे जाने अर्थ के उदा-

हरण देखिये यथा "अवतस्य बलं तिर" (ऋग्वेद० १०।१३३।५), "स्वभुजादवतारिता" (रघु० १।३४), "स्वगात्रादवतार्य भूषणानि" (मुद्राराक्षस २।५), एवमेव (मु० ३।६), (का० १८), (प० त० १) (वि० १) आदि आदि में उतारे जाने अर्थ में 'अवतृ' का प्रयोग हुआ है।

एवं एक देशी, स्वाभाविक क्रियायुत तथा गन्ता आगन्ता (जाने आने वाले), शुभाशुभ कर्म कर्त्ता, आत्मघाती वा अन्यथादर्शी जीवात्माओं का अवतार होना सिद्ध है। वह सामान्यतया चार प्रकार का इस मन्त्र से प्रकाशित होता है यथाः—(१) सूर्य लोक से पृथिवी आदि पर उतारा जाना, (२) ब्राह्मणादि से शूद्रादि के कुल में, (३) शूद्रादि के शरीर से पशु योनि में, (४) पशु से वृक्षादि में उतारा जाना॥ (य० ४०।३)

और (५) पञ्चम सर्वोत्तम वे अवतार हैं जो सर्वोच्चतम मोक्ष धाम (प्रकाश और आनन्द स्वरूप ओ३म् पदार्थ मात्र के सहवास) से [ईश्वर व्याप्त] कारावास (बन्दीगृह) कारण और कार्य जगत् में केवल अविवेक और वासनाओं के कारण उतरते हैं। यह नीचे लिखे मन्त्र से सिद्ध है॥

१२---"आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्व मेरिरे।
दधाना नाम यज्ञियम्। (सा० ३०।४।२।३।२)

भाषार्थः—कैसी अद्भुत (आश्चर्य की) बात है कि जीव अपनी प्रकृति (स्वभाव के अनुसार उस प्रकाश स्वरूप एवं आनन्दमय

मोक्षाश्रम से लौट कर पूजनीय महर्षि नाम धारित करते हुए फिर अन्धकार वा अविद्या पूर्ण एवं दुःख मूल जड़ पृथिवी आदि लोकों के गर्भाशय को सर्गारम्भ में प्राप्त करते हैं। (स० ३०।४।२।३।२).

भावार्थः—जीवात्मा अत्यन्त लघु स्वरूप होने से अविद्या, अविवेक और वासनादि का इसके सङ्ग प्रवाह अनादि सम्बन्ध है। मोक्ष समय में अविवेकादि तिरोहित रहते हैं 'मुक्तिकाल की समाप्ति पर यह सब प्रकट हो जाते हैं' अतएव जीव में संसार भोग की इच्छा होती है। मुक्त आत्माओं के भोग शेष न रहने, से एवं संसारी पदार्थों से ज्ञान नष्ट हो जाने से वे सब बद्ध जीवों से पवित्रतम* होते हैं, इसी कारण सृष्टि के आदि में अमैथुनी कर्मयोनि (देह) को बिना गर्भ दुःख के पाते हैं और उन्हीं को साक्षात् अनादि जगत् गुरू जगदीश्वर चारों वेद पढ़ाता हैं जिससे वे महर्षि कहाते हैं।

सारः—परमेश्वर सर्वव्यापक का अवतार नहीं होता। जीवों का अवतार ५ प्रकार का होता है। मुक्ति से भी जीव लौटते हैं॥ (सा० ३।४।२।३।२)

१३..."अतिद्रवश्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ

* पूर्व भोगों की वासना रूपी मल, और लौकिक पदार्थों के ज्ञान रूपी विक्षेप से रहित होने से पवित्रतम कहे गये हैं।

साधुनायथा। अधापितॄन सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति" (अथ० १८।२।११)

भावार्थः—हे जिज्ञासु एवं मुक्ति-इच्छु जीवो! तुम योगाभ्यास एवं निष्काम कर्मों से मापने (में लगाने) योग्य चारों (सर्व) दिशाओं में व्यापक प्रकाश अप्रकाश एवं श्वेतता, अनेक रूपयुत गति एवं वृद्धिशील प्राण अपान को मोक्ष साधक मार्ग से पार कर जाओ (बिताओ), तब मुक्ति प्राप्ति द्वारा उन आत्म रक्षक महत्तमज्ञानियों को निश्चय से पाओ, जो सब नियन्ता ओ३म् के सहवास और साक्षात् दर्शन से मोक्षानन्द का अनुभव करते हैं॥ अथ० १८।२।११)

भावार्थः—जो परमात्मदर्शी योगी, जीवात्मा अपना जीवन निष्काम कर्मों (निस्वार्थ परोपकार) में समाप्त करता है वह पूर्व मुक्तों का साम्य प्राप्त कर मोक्षानन्द का भागी होता है।

सारः—निष्काम कर्म एवं परमात्म दर्शन से मुक्ति, और मुक्ति में ईश्वर सहवास और आनन्दानुभव होता है॥ (अथ० १८।२।११)

१४- -"ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः। विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमे दमे" (ऋ० ४।७।३)

भावार्थः—हे जीवात्माओं ! उस जगदीश्वर को जो, जैसे सूर्य नक्षत्रों सहित समस्त अनिवार्य एवं अत्यन्त आवश्यकीय यज्ञों के प्रत्येक घर में प्रकाश करता है, वैसे सर्व जीवात्माओं सहित सकल अबाध्य योगाभ्यास की क्रियाओं के साधन प्रत्येक अन्तः करण एवं स्वयं आत्मा में प्रकाशमान है । उस सर्वज्ञ तथा सत्य स्वरूप ओ३म् को देखते हुए प्राप्त करो ॥ (ऋ० ४।७।३)

भावार्थः—बाह्य द्रव्य मय यज्ञ एवं उपासनादि मय अन्तर आत्मयज्ञ कभी नहीं रोकना चाहिये । रोकना घोर अधर्म है । सूर्य का प्रकाश जैसे अन्धे नहीं देखते, ऐसे ही दुबले, मोटे, काले, गोरे, युवा, वृद्ध आदि आदि होने का मिथ्या अभिमान करने वाले जड़मानी अपासकों को ओ३म् दर्शन नहीं हो सकता वरन उपासक योगी आत्मा को सूर्यवत् आत्म दर्शन शक्ति से साक्षात् (अकरण) परमात्म दर्शन होता है ।

सारः—देव यज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ जीवके कर्तव्य हैं । ईश्वर दर्शन सूर्यवत् होता है ॥ (ऋ० ४।७।३)

१५..."पात्वाग्निर्विपो अग्रं पदं वेः पातु यह-
श्चरणꣳ सूर्यस्य । पातनाभा सप्तसीर्षाणमग्निः
पातु देवानामुपमाद मृष्वः" (सा० ६।३।१३)

भावार्थः—मेधा स्वरूप संयोजक वियोजक परमेश्वर' चलने के स्वभाव वाले जीवात्मा के सर्वोत्तम पद (मोक्षधाम) का

नियंत्रण करता है । महत्तम जगदीश' प्रकाश स्वरूप गति शील एवं इन्द्रियादि प्रेरक जीवात्मा के चलने को रखाता है । [वहहो] सर्वव्यापक तथा सर्व ज्ञापक (ज्ञानदाता) ईश्वर, अन्धेरे (जड़) शरीर में ठहरे हुए एवं बुद्धि, चित्त, ५ ज्ञान इन्द्रियां सात करण शिर में रखने वाले बद्ध जीव की रक्षा करता है । सर्वोत्तम तेजस्वी सर्वेश्वर' इन्द्रियों के द्वारा हर्ष, क्रीड़ा करने वाले जीवात्मा को सुरक्षित रखता है ॥ (सा० ६।३।१३)

भावार्थः—सर्वाधार जगदीश्वर ही जीवात्माओं और शरीरों का एकत्रित (मिले हुए) रखने, एवं वह ही अलग अलग करने हारा, और वह ही मोक्षदाता है, अर्थात् संसार और मुक्तिधाम का वह एक ही स्वामी है । और जीवात्मा स्वभाव से चलने वाले और वक्ता, श्रोता, द्रष्टा आदि कर्त्ता, भोक्ता है । और वाक्, श्रोत्र, नेत्रादि बुद्धि पर्यन्त १६ करणमात्र हैं । शिर विज्ञानमय कोश जिसके अङ्ग बुद्धि चित्त और ५ ज्ञानेन्द्रियां हैं । (देखो सत्यार्थप्रकाश ६ स० ११ सं० पृ० २२५)

न+आभा=नो प्रकाश ज्ञाने वा यत्र तन्नाभा शरीरम् शिरम् वा=जिसमें आभा प्रकाश न हो वह वस्तु शरीर वा शिर ।

सारः—जीवित रखने, मारने एवं मुक्त करने हारा जगदीश्वर है । जीव स्वाभाविक चलने हारा, दुःखी, सुखी, कर्त्ता है और जड़ बुद्धि आदि करण हैं ॥ (सा० ६।६।१३)

१६–"एष रुक्मिभिरीयतेवाजी शुभ्रेभिरंशुभिः।
पतिः सिन्धूनां भवन् ॥ (ऋ० ९।१५।५)

भाषार्थः—यह आत्म प्रत्यक्ष अनन्तबली ओ३म्, निरन्तर क्रिया शील प्रकृतियों (परमाणु समूहों) एवं नित्य क्रिया स्वभाव जीवात्माओं का स्वामी होता हुआ अपने अंश के सदृश दीप्तिमान, स्वच्छ, लघुतम एवं चेतन जीवात्माओं से प्रत्यक्षतया प्राप्त किया जाता है ॥ (ऋ० ९।१५।५)

भावार्थः—प्रकृति द्रव पदार्थ होने से नित्य निरन्तर बहती रहती है। जीवात्मा उस से भी अत्यन्त छोटे अणु परिमाण निराकार चेतन, प्रकाश स्वरूप एवं स्वाभाविक गमनयुत हैं और परमात्मा अत्यन्त महान्, विभू परिमाण चेतन, प्रकाश स्वरूप और कूटस्थ (अचल) है। इसलिये अंशु का अर्थ जीवात्मा युक्त है।

सारः—जीव चेतन, अत्यन्त छोटा (अणु) प्रकाश स्वरूप स्वतः परमात्मा प्राप्त करने हारा है ॥ (ऋ० ९।१५।५)

१७–"बालाग्रशत भागस्य शतधार्कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥
(श्वेताश्वतर ३०।५।८) यह श्लोक "बालादेक..."
(अ० १०।८।२५) की आंशिक व्याख्या है ॥

भाषार्थः—बाल, पतले से पतले रोम की नोक के सौवें भाग के सौ भाग माने हुओं में का एक भाग वह जीव जानना चाहिये। वह अनन्त भाव को समर्थ है। (श्वे० ५।९)

भावार्थः—अत्यन्त पतले रोम की नोक का दश सहस्रवां भाग सा छोटा जीवात्मा होता है। और नित्य है ॥ (श्वे० ५।९)

१८–"आर्षा रथोऽवर्तत प्रवत्वान्त्सुप्रबन्धुरः
सुविताय गम्याः। वृष्णः स्थातारा मनसोजवीयान्
हम्पूर्वेयजतोधिष्ण्याय: ॥ (ऋ० १।१८१।३)

भाषार्थः—हे आप्त विश्वासी एवं अभय बैठने वाले स्त्री पुरुषो वा गुरु शिष्यो! तुम्हारा रम्ययान वा तद्वत् (रथसम) तुम दोनों के शरीर पृथिवी के तुल्य प्रशस्त (उत्तम) वेगादि गुण वाले, ठीक मिले हुए बन्धनों वा अङ्गों से युक्त जो ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये अग्न्यादि वा प्राणादि पदार्थों के बल से चलाने योग्य होते हैं, वह यान वा वे तुम्हारे शरीर, अनेक बलयुत और मन से तीव्र चाल वाले अहं नामक वक्ता अनादि आत्मा के अर्थ साधक हैं ॥ (ऋ० १।१८१।३)

भावार्थः—पृथिवी के बराबर चलने वाले रथ बनते हैं। शरीर भी ऐसे वेगयुत होते हैं। आत्मा उन रथों तथा शरीरों का चलाने वाला और वे उसके कर्म एवं भोग के साधन होते

हैं; और वह जीव स्वयं मन से तीव्रतर (अधिकतर) चलने वाला होता है ॥

सारः—जीव कर्त्ता रथी, शरीर साधन रथ, और जीव की चाल मन से विशेष है ॥ (ऋ० १।१८१।६)

१९—"कोऽवाऽन्तरुत ऋष्टि विद्युतो रेजतित्मना हन्वेव जिह्वया । धन्वच्युत इषां न यामनि पुरुप्रैषा अहन्योऽनैतशः ॥ (ऋ० १।१६८।५)

भाषार्थः—हे बहुवार प्रेरणा को प्राप्त द्विधारा खड्ग रूपी बुद्धि को विद्युत सम तीव्र रखने वाले भ्राताओ ! तुम्हारे प्राणों के मध्य कौन कम्पता है ? (१) वाणी से ठोड़ी समान सूक्ष्म स्थूल अङ्गों को अपने आप विना करणों के कौन चलाता है ? (२) और अन्तरिक्ष से वर्षे हुए तट के (अभिनव) जलों के तुल्य, वा न मारने योग्य ब्राह्मण (चतुर्वेदज्ञ) ब्रह्मवित् संन्यासी के सदृश इस शरीर को कौन युक्त मार्ग में प्रवृत्त करता है ? (३) (ऋ० १।१६८।५)

भावार्थः—उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर 'जीवात्मा' है । जिस प्रकार विज्वली से तरवार ऐसे ही बारम्बार प्रेरणा से बुद्धि का तीव्र करने वाला और प्राण प्रधान सूक्ष्म स्थूल अङ्गों का चालक प्रकाश स्वरूप जीव है । जैसे सर्व जलों में वर्षा जल

ऐसा पवित्र और जैसा सर्व मनुष्यों में संन्यासी शरीर ऐसा सर्व जगत् में उत्तम यह इन्द्रियपति इन्द्रियों का चलाने हारा जीवात्मा है ।

सारः—जीव २४ करण चालक, पवित्र और सब से उत्तम है ॥ (ऋ० १।१६८।५)

२०—"इदमुत्यन्महि महामनीकं यदुस्रिया सचत पूर्व्यं गोः । ऋतस्यपदे अधिदीधान गुहा रघुष्यद्र्यार्द्विवेद ॥ (ऋ० ४।५।८)

भाषार्थः—हे जिज्ञासु आत्माओ ! जो बड़े सेनेश सम बड़ा और सत्य स्वरूप ब्रह्म के प्रापनीय पद तृतीय धाम में प्रकाशमान होता है बुद्धि का प्रेरक शीघ्र दौड़ने हारा, अनादि एवं पूर्वजों से प्रत्यक्ष कृत, अल्प क्रियः, और दुग्धादि दात्री गौ के सदृश लोक मोक्षदा वेदवाणी को बारंबार जान चुका है उसी स्वस्वरूप को अधिक निश्चय से पावो और उन्नत करो ॥ (ऋ० ४।५।८)

भावार्थः—हे जिज्ञासुओ ! जो इन्द्रियादि महती सेना का शासक (अपने आधीन रखने वाला) बुद्धि का प्रेरक, प्रकाशमान, मोक्षधाम में जाने वाला, अत्यन्त तीव्र चालयुत, अनादि सिद्ध, अल्प स्वरूप होने से अल्प यत्नवान्, और सर्व सुखदा वेदवाणी को असंख्य वार मनुष्य शरीर पा चुकने से बारंबार जान चुका है और जानता रहेगा वह ही आप लोक हैं ॥

सारः—अर्थात् जीव अल्प क्रियः, अत्यन्त गतिमान, प्रकाश

हैं; और वह जीव स्वयं मन से तीव्रतर (अधिकतर) चलने वाला होता है ॥

सारः—जीव कर्त्ता रथी, शरीर साधन रथ, और जीव की चाल मन से विशेष है ॥ (ऋ० १।१८१।६)

१९—"को वोऽन्तमरुत ऋष्टि विद्युतो रेजतित्मना हन्वेव जिह्वया । धन्वच्युत इषां न यामनि पुरुप्रैषा अहन्योऽनैतशः ॥ (ऋ० १।१६८।५)

भाषार्थः—हे बहुवार प्रेरणा को प्राप्त द्विधारा खड्ग रूपी बुद्धि को विद्युत सम तीव्र रखने वाले भ्राताओ ! तुम्हारे प्राणों के मध्य कौन कम्पता है ? (१) वाणी से ठोड़ी समान सूक्ष्म स्थूल अङ्गों को अपने आप विना करणों के कौन चलाता है ? (२) और अन्तरिक्ष से वर्षे हुए तट के (अभिनव) जलों के तुल्य, वा न मारने योग्य ब्राह्मण (चतुर्वेदज्ञ) ब्रह्मवित् संन्यासी के सदृश इस शरीर को कौन युक्त मार्ग में प्रवृत्त करता है ? (३) (ऋ० १।१६८।५)

भावार्थः—उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर 'जीवात्मा' है । जिस प्रकार विजली से तरवार ऐसे ही बारम्बार प्रेरणा से बुद्धि का तीव्र करने वाला और प्राण प्रधान सूक्ष्म स्थूल अङ्गों का चालक प्रकाश स्वरूप जीव है । जैसे सर्व जलों में वर्षा जल

ऐसा पवित्र और जैसा सर्व मनुष्यों में संन्यासी शरीर ऐसा सर्व जगत् में उत्तम यह इन्द्रियपति इन्द्रियों का चलाने हारा जीवात्मा है ।

सारः—जीव २४ करण चालक, पवित्र और सब से उत्तम है ॥ (ऋ० १।१६८।५)

२०—"इदमुत्यन्महि महामनीकं यदुस्रिया सचत पूर्व्य गोः । ऋतस्यपदे अधिदीधान गुहा रघुष्यद्रद्युर्याद्विवेद ॥ (ऋ० ४।५।८)

भाषार्थः—हे जिज्ञासु आत्माओ ! जो बड़े सेनेश सम बड़ा और सत्य स्वरूप ब्रह्म के प्रापनीय पद तृतीय धाम में प्रकाशमान होता है बुद्धि का प्रेरक शीघ्र दौड़ने हारा, अनादि एवं पूर्वजों से प्रत्यक्ष कृत, अल्प क्रियः, और दुग्धादि दात्री गौ के सदृश लोक मोक्षदा वेदवाणी को बारंबार जान चुका है उसी स्वस्वरूप को अधिक निश्चय से पावो और उन्नत करो ॥ (ऋ० ४।५।८)

भावार्थः—हे जिज्ञासुओ ! जो इन्द्रियादि महती सेना का शासक (अपने आधीन रखने वाला) बुद्धि का प्रेरक, प्रकाशमान्, मोक्षधाम में जाने वाला, अत्यन्त तीव्र चालयुत, अनादि सिद्ध, अल्प स्वरूप होने से अल्प यत्नवान्, और सर्व सुखदा वेदवाणी को असंख्य बार मनुष्य शरीर पा चुकने से बारंबार जान चुका है और जानता रहेगा वह ही आप लोक हैं ॥

सारः—अर्थात् जीव अल्प क्रियः, अत्यन्त गतिमान, प्रकाश

स्वरूप दर्शनादि क्रियाओं का कर्त्ता और इन्द्रियादि करण मात्र हैं ॥ (ऋ० ४।५।६)

२१—"आस्वमद्म युवमानो अजरस्तृष्व विष्यन्ततसेषुतिष्ठति । अत्येान पृष्ठं प्रुषितस्य रोचते दिवोन सानु स्तनयन्नचिक्रदत् ॥ (ऋ० १।५८।२)

भाषार्थः—हे जड़ाभिमानियो ! (अपने को दुबला, मोटा आदि कहने एवं मानने हारो) जो मिलाने और अलग करने हारा, बुढ़ापा आदि रहित, देह रक्षक, व्याप्तीय आकाशादि ५ भूत निवासी, पूर्ण परमात्मा में स्थित और जैसे घोड़ा अपनी पीठ पर भार ढोता है वैसे देहादि को ले चलता है। जैसे प्रकाश से पर्वत की चोटी वा मेघ की घटा प्रकाशित होती है वैसे प्रकाशमान है। बिजली की न्यायो नाना शब्द करता है और जेा अपने किये कर्मों के फलों को शीघ्र ईश्वर व्यवस्थानुसार भोगता है वह देहधारी जीव है ॥ (ऋ० १।५८।२)

भावार्थः—चेतन जीवात्मा हो सब दर्शनादि शारीरिक क्रियाओं का स्वतन्त्र वा अकरण क र्ता है। कारण, सूक्ष्म, और स्थूल तीनों देहें तरे ऊपर उस पर लदी हुई हैं। वह जीव विद्युत् के तुल्य ऊंचा शब्द करता है। अनेकानेक भाषायें बोलता है। और ईश्वर के नियम एवं न्याय से कर्म फलों का भोक्ता है।

सारः—जीव बिजली सम गरजता है। ३ देह वाहक और श्रवण, दर्शनादि का अकरण कर्त्ता और परतन्त्र भोक्ता है ॥ (ऋ० १।५८।२)

२२—"परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्यसर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसं विवेश ॥ (य० ३२।११)

भाषार्थः—मुमुक्षु जीवात्मा ५ भूत कृत शरीरों को सब भांति से प्राप्त एवं जान कर, सूर्यादि लोकों, मनुष्यादि देहों को सर्वतः सर्वथा व्याप्त एवं जान कर; और सब पूर्वादि एवं ऊपर नीचे की दिशाओं तथा आग्नेयादि उपदिशाओं को सब ओर व्याप्त एवं जांच कर सर्गारम्भ में प्रकट की हुई वेद वाणी को यथावत् सार्थ कण्ठस्थ कर के असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा सत्य वेद ज्ञान के प्राप्त करने हारे सत्य स्वरूप परमेश्वर में साक्षात् आत्म शक्ति द्वारा सब ओर से सन्मुखता से प्रवेश करता है अर्थात् ईश्वर को साक्षात् प्रत्यक्षतया प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ (य० ३२।११)

भावार्थः—जो मुमुक्षु आत्मा वेदाध्ययन और योगाभ्यास द्वारा यथार्थ विवेक प्राप्त कर लेता है, वह यह जान लेता है कि जगत् के सर्व पदार्थ द्वन्द्वों (परस्पर विरोधी दो अवस्थाओं)

से पूर्ण हैं कोई द्वन्द्व हीन नहीं । स्वयं जड़ होने से चेतनात्माओं के शत्रु एवं हिंसक हैं । जो इन पर सब प्रकार से अपना अधिकार रखता है वह इनको मोक्ष का साधन बनाता है । वरन् ये मनुष्य शरीर से पशु, वृक्षादि में पहुंचाने के कारण हो जाते हैं । ऐसा प्रत्यक्ष कर लेने वाला जीवात्मा, परमात्मा और मोक्ष स्वरूप को प्रत्यक्ष करके मुक्त हो जाता है ॥

सारः—यह है कि विवेकी आत्मा ईश्वर दर्शन से मुक्त होता है । अविवेकी बन्धन में रहता है ॥ (य० ३२।११)

२३---ऋचो अक्षरे परमेव्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वेनिषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ (ऋ० १।१६४।३९)

भाषार्थः—चारों ऋग्वेदादि जिस अनाश और अत्यन्त प्रकृष्ट सर्वव्यापक ओ३म् में नित्य अर्पित रहते हैं एवं जिसका प्रतिपादन और वर्णन करते हैं । और जिसमें समस्त सूर्य, पृथिवी आदि जड़ पदार्थ तथा सब बद्ध मुक्त चेतन जीवात्मायें आधेय रूप से ठहरते हैं । जो वेदज्ञ उस चेतन स्वरूप ओ३म् को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या कर सकता है । जो उसको जानते हैं वे मुख्य उसके स्वरूप में ही आनन्द पूर्वक वास करते हैं ॥ (ऋ० १।१६४।३९)

भावार्थः—चारों वेदों का शिक्षक परमेश्वर है । वह सर्वज्ञ

है इस लिये वेद भाषा अनेक वा प्रत्येक मुख प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में अर्थात् जिन जिन का जिन जिनसे वेद विषयक भाषण आवश्यक होता है उन उनके पारस्परिक सम्भाषण रूप में अथवा जिनका वर्णन अवर्ज्य होता है उनके आख्यान रूप में स्वमुख वा अन्यान्य मुख से अनेक विधि और ऐसी शैली में बताई है कि जिससे सब प्रकार और सर्वदा सबके लिये सुगमा और अत्यन्तासुप्रयोज्या होवे । परन्तु अयोगी अध्येताओं के हृदय में इससे अनेकानेक सन्देह उपजते हैं जिनकी यथार्थ निवृत्ति योग वा योगी भिन्न कोई नहीं कर सकता । दूसरे वेद मन्त्रों के अर्थ उन मन्त्रों में ही इस ढङ्ग से एक के दूसरे में सामान्यतया और कभी उसके उसी में रख दिये हैं कि उनके यथावत् जानने को कोई मनुष्यात्मा स्वतन्त्र समर्थ नहीं हो सकता । जब उनको जानना चाहे तब परमेश्वर से योगाभ्यास करके जाने । यदि कोई योगी भाष्य भी करदे तो जब और जो कोई उलझन वा सन्देह हो उसकी निवृत्ति परमेश्वर अन्तर्यामी ही से हो सकती है । चाहे कोई आत्मा स्वयं करे, चाहे अन्य योगी से करावे । इससे अन्यथा नहीं हो सकती । उस आत्मव्यापी अन्तर्यामी से मिलना किञ्चिदपि कष्टप्रद वा असाध्य नहीं क्योंकि वह आनन्द स्वरूप है जब मिलें तब विशेष आनन्द देता है । दूसरे दुःख वा थकन करणों से कर्म करने में होती है । स्वयं आत्म कर्म में नहीं । सकरण क्रियाओं को बाह्य वृत्तियां रखते हुए करता है और अकरण कर्मों को आत्मा अन्तर वृत्ति रखते हुए स्वतन्त्र करता

है जिन में विशेष यत्न नहीं करना पड़ता । फिर वह सर्वज्ञ, सर्व शिक्षक और अत्यन्त दयालु है और अत्यन्त सुविधा से यथा योग्य शिक्षा देता है । परन्तु सब से कठिन बात यह है कि आप लोक (जीवात्मा) सब ओर से प्रकृति से ढके हुए हैं अर्थात् आत्मा कारण देह में रहता है । कारण सूक्ष्म वा लिङ्ग शरीर में, और सू० श० स्थूल तनु में रहता है । पुनः स्थूल देह के सर्व दिशाओं में सब स्थूल, सूक्ष्म भूत, अन्य सब ही कार्य और कारण पदार्थ रहते हैं । जब तक जीवात्मा को इन जड़ देहों से भिन्न अपने चेतन स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं होता तब तक अविवेक के कारण इन ही कार्य जड़ पदार्थों में मग्न रहता है । विवेक के बिना अपने अन्तर्यामी को जो अत्यन्त निकट (आत्मा में व्यापक) है उसे नहीं जानता । उसको जाने और माने बिना, मिले (योग करे) तो किस से और कैसे । और योगाभ्यासके अभाव में ऐसे अत्यन्त गूढ़ गम्भीर आशयके रचयिता एवं स्वयं शिक्षकके सिखानेसे अन्यथा सीखे भी तो कैसे ।

इसलिये ऋचा में उपदेश है कि जो सर्वोत्तम आत्म व्यापी गुरु ओ३म् को नहीं जानता वेद उसकी बुद्धि में नहीं आता और उसका पढ़ना न पढ़ना समान हैं, पढ़ना कुछ लाभकारी नहीं होता और जो उस जगत् गुरु को जानता है वह ठीक अर्थ को पाता है और सर्व संसार सुख प्राप्त करके मोक्ष धाम को जाता है एवं ओ३म् के सहवास और साक्षात् दर्शन से आनन्द अनुभव करता है ॥ (ऋ० १।१६४।३६).

सारः—दर्शनाभ्यासी योगी को साक्षात् ब्रह्म से उपदेश मिलता है इसलिये उसके वेद विषयक सर्व भ्रम दूर, और पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने से उसको मोक्ष मिलता है । अयोगी के लिये वेद पढ़ना भी अनुपयोगी ही है ॥ (ऋ० १।१६४।३६).

२४—"क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः पुरोहितो होता निषत्तो रविवाडमर्त्यः । रथो न विक्ष्वृञ्जसान आयुषु व्यानुषग्वार्या देव ऋण्वति ॥ (ऋ० १।५८।३).

भावार्थः—हे जिज्ञासु जनो ! जो सूर्य आदि लोकों एवं मनुष्यादि योनियों और प्राणों तथा शरीर सम्बन्धी अन्य मनुष्यादि पदार्थों के साथ ठहरा हुआ भांति भांति की देहों एवं अन्य वस्तुओं का धारण करनेहारा, शरीर अध्यक्ष ऐश्वर्य सहने (अधिकार में रखने) वाला, अमर कृत कर्मों के फलों का भोक्ता, स्वजाति वा स्वपरिवार में रथ समान रमणीय शरीर से नाना जीवनों वा भिन्न भिन्न योनियों के अनुकूल भांति भांति की भाषणादि क्रियाओं का करने वाला, लेने योग्य उत्तम सुख देने वाले पदार्थों एवं सुखों को योनि आदि के अनुसार विविध प्रकार से प्राप्त करता है वह ही शुद्ध प्रकाश स्वरूप जीवात्मा तुम हो ॥ । ऋ० १।५८।३)

भावार्थः—जीवात्मा शुद्ध एवं प्रकाश स्वरूप है । नाना योनियों एवं विभिन्न शरीरों में कर्मानुसार ईश्वर जीवों को

प्रविष्ट करता है। जैसी योनि में जीव पहुंचता है वैसी ही भाषा सुन कर बोलने लगता है। अन्यान्य क्रियायें भी उसी योनि के युक्त करने में प्रवृत्त होता है। दुःख सुख भी उसी योनि एवं देह के सदृश मानता है॥

सारः—आत्मा अमर, शरीर नाशवान् रथ है। प्रत्येक योनि के अनुगत विलक्षण २ (परस्पर विरुद्ध) दुःख सुख का इच्छुक और मानने हारा तथा भिन्न भिन्न स्वभाव वाला है॥ (ऋ० १।५८।३)

२५—"विवातजूतो अतसेषु तिष्ठति वृथाजुहूभिः सृण्या तुविष्वणिः। तृषु यदग्ने वनिनो वृषायसे कृष्णन्त एम रुशद्भर्मे अजर॥ (ऋ० १।५८।४)

भाषार्थः—हे एक रस स्वरूप तीक्ष्ण वा श्वेत ज्वाला युत बिजली के सदृश वर्त्तमान प्रकाशस्वरूप जीव तू! तृण काष्ठादि भूमि जलादि व्याप्तव्य पदार्थों में विशेष ठहरने वाला यत्नशील, प्राण का प्रेरक वायु समान वेगवान् बहु पदार्थों का भोक्ता, ग्रहण करने वाली क्रियाओं एवं धारण तथा वाहन करने वाले कर्मों वाली विद्युत् से युक्त प्राणों को प्राप्त हो के शीघ्र वृषभ (बैल वा बलिष्ठनर) के तुल्य आचरण करता है। तेरी आकर्षण युक्ता ज्योति को जड़ शरीर प्राप्त होते हैं। सो

तू मिथ्या जड़ अभिमान को तज कर अपने चेतन स्वरूप को जान॥ (ऋ० १।५८।४)

भावार्थः—जीवात्मा नित्य सत्य स्वरूप (अविकारी, अपरिणामी) वा कूटस्थ अर्थात् किसी अन्य वस्तु से न जुड़ने वाला नित्य एक वस्तु अखण्ड (निराकार); विद्युत् सम ज्योति है। तृणादि पशु यावत् योनियों में सब से अधिक रहता है। मनुष्य केवल एक योनि है। वायु से अधिक तीव्रगामी है। प्राणों में बिजली बहुत है। शरीर जड़, जीव का बन्दीगृह है। यन्त्र वा क्रिया जीव में स्वाभाविक है॥

सारः—जीव कूटस्थ एवं सत्य स्वरूप, प्रकाशरूप, तृणादि शरीर का बहु वासी, अविवेक से जड़ अभिमानी है॥ (ऋ० १।५८।४)

२६—"इदं त एकं पर ऊत एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व। संवेशने तन्वा चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे॥" (अथर्व० १८।३।७)

भाषार्थः—हे मुमुक्षु जन! तेरे लिये यह कार्य जगत् एक (पहला) धाम (निवास स्थान) है। और इसके दूसरी ओर कारण जगत् (परमाणु समूह) तेरा दूसरा वासालय है। तू तीसरे ज्योति स्वरूप परब्रह्म में मुक्त होकर प्रवेश कर। यथावत् प्रवेश समय अत्यन्त उत्तम प्रकाश स्वरूप को धारित कर

(बन) जो मुक्तात्माओं को उस सर्वोपरि परमेश्वर के सहवास में अतीव कमनीय होता है ॥ (अथ० १८।३।७)

भावार्थः—ब्रह्म दिन भर जीवात्मा कार्य जगत् में रहते हैं जो पहला धाम एवं कर्म और भोग स्थान है और जहां यावत् स्थूल देह जीव जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीन अवस्थाओं में रहते हैं। द्वितीय धाम में ब्रह्म रात्रि भर कारण देह आनन्दमय कोश (एक परमाणु) में ठहरे हुए जीव घोर सुषुप्त आनन्दानुभव करते रहते हैं। प्रथम धाम बन्दी नगर और द्वितीय उसका परकोटा है। जब उस कारागृह एवं नगर तथा सुषुप्ति के कारण उस परकोटा से निकलने और पूर्ण ज्ञानी वा जागृत होकर तृतीय धाम ज्योतिः स्वरूप परमात्मा मात्र में प्रवेश करते हैं। उस समय आत्मा के स्वरूप का प्रकाश से मुक्त होकर जीव स्वरूप और भी अतीव प्रकाशमान प्रतीत होने लगता है। वहां वह ३११०४०००००००००० वर्ष तक साक्षात् ईश्वर के संग रहता हुआ ईश्वर दर्शन से आनन्द को पाता रहता है।

सारः—सब तीन धाम हैं। जब तक जीवात्मा बन्धन में रहते हैं तब तक इन दो कार्य कारण धामों रूपी कारावास से नहीं निकल सकते। जब मुक्त होते हैं तब पूर्ण विवेक और आनन्दासक्ति के कारण इस कारास्थान से घृणा करते हैं। अतएव केवल ब्रह्म में विचरते हैं। जब मुक्ति कालान्त में फिर प्रवाह अनादि अविवेक प्रकट होता है तब जगत् में आने लगते हैं ॥ (अथ० १८।३।७)

२७---"त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविर्देवानां परिभूषसि व्रतम् । विभुर्विश्वस्मै भुवनाय मेधिरो द्विमाता शयुः कतिधा चिदायवः ॥ (ऋ० १।३१।२)

भावार्थः—दुष्ट वा दुःख नाशक जगदीश्वर ! वा सभा सेनाध्यक्ष आप अनादि स्वरूप एवं पहले मानने योग्य प्रलय में बद्ध जीवों को सुलाने वा स्वयं मुक्त न होने से सोने वालों और सृष्टि काल में जगाने वा जगने हारे, प्रकाशमान एवं अप्रकाशमान् लोकों के निर्माता वा तद् विद्या ज्ञाता। जीव, प्राण वा मनुष्यों में अत्युत्तम सर्व जगत् व्यापक यद्वा सभा सेना के अङ्गों से शत्रु बलों में व्याप्त और सर्व संसार के वा लोक भर के जानने वाले हो। उसी कारण मनुष्य वा संसार के लिये पृथिवी सूर्यादि सर्व लोकों और उनके वासी सर्व विद्वानों वा भूलोकस्थ विद्वानों को धर्म युक्त नियमों से कितने प्रकार सब ओर से सुशोभित कराते हो ॥ (ऋ० १।३१।२)

भावार्थः—जैसे परमेश्वर सर्व जगत् का नियामक; शासक एवं सर्व व्यापक, सर्वज्ञ, सर्व प्राणियों का धर्म शिक्षक, प्रेरक और सहायक है। प्रलयकाल में बद्ध जीवों को कारण तनुस्थ रख कर सुषुप्त कर देता है, सर्गारम्भ में पुनः चिताता है। ऐसे ही राजादि पृथिवी आदि स्व स्वलोक वा किसी पार्थिवादि

खण्ड के नियामक, शासक, सर्व राज्य के विचरने वाले, ज्ञाता और प्रजाओं के धर्म शिक्षक, रक्षक, प्रेरक, सहायक आदि स्वयोग्य कर्म कर्त्ता होने चाहिये ॥

सारः—प्रलय रात्रि ब्रह्म दिन समान ४३२०००००० वर्ष की होती है जिस में बद्ध जीव घोर निद्रा में रहते हैं ॥ (ऋ० १।३१।२)

२८—"[११] [१२] [१३] [३] [४] [५]
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
[१५] [१४] [१६] [७] [८] [९] [१०] [२]
लोकायत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो
[६]
परिस्रव ॥ [ऋ० ९।११३।९]

भाषार्थः—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् आप मुझ मुमुक्षु, जीवको उस त्रिदुःख रहित तीसरे प्रकाश धाम नाम खसर्वोत्तम स्वरूप मात्र में वासार्थ अधिकारी बनावें और वहां मुझ को मोक्षानन्दी करें। यथा रुचि स्वतन्त्र विचरना होता है, और जहाँ कि प्रकाश के ही दर्शन अथवा जीवात्मा प्रकाश स्वरूप ही होते हैं ॥ (ऋ० ९।११३।९)

भावार्थः—मोक्षाश्रम प्रकाश स्वरूप है। वहां आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक कोई दुःख नहीं होता, त्रिलोक प्रकाशक जगदीश्वर के प्रकाश स्वरूप मात्र में (जो कार्य और कारण दोनों धामों से परे बाहर सब से ऊंचा और सर्वोत्तम है) तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहों एवं कार्य, कारण जगत् से

मुक्त होकर वा देश एवं स्वरूपापेक्ष पृथक् अथवा दूर, बाहर होकर मुक्तात्मा स्वतन्त्र बिना रोक यथेच्छा विचरते, भ्रमते वा विहरते हुए ओ३म् दर्शनानन्द अनुभूत करते हैं।

सारः—मुक्ति अवस्था में इच्छानुसार जीव विचरते हैं। न कोई शरीर, न साधन न प्रकृति का छाया भी होता है। (ऋ० ९।११३।९)

२९—[१९] [२] [१२] [११] [१२] [१५] [४]
दधुष्ट्वा भृगवो मानुषेष्वा रयिं न चारुं
[४] [१३] [७] [१] [८] [६] [११]
सुहवं जनेभ्यः । होतारमग्ने अतिथिं वरेण्यं मित्रं
[१७] [१३] [१४] [१५]
न शेवं दिव्याय जन्मने ॥ (ऋ० १।५८।६)

भाषार्थः—हे अग्नि के तुल्य प्रकाश स्वरूप दर्शक; द्रश्य, द्रष्टा जीव, तुझ अति सुन्दर स्वरूप 'मनोहर शब्दयुत' विद्यादि ऐश्वर्य के समान दानशीलता वा ऐश्वर्य के अथक दाता। अनियत स्थिति एवं निरन्तर गमनशील अतीव ग्रहण करने योग्य' सुख पाने एवं त्यागने हारे को मनुष्य शरीरों में परिपक्व ज्ञानी विद्वानों से विद्या एवं शिक्षा पाये हुए आत्मा उत्तम जन्म के लिये मृत्यु से बचाने हारे के समान साक्षात् स्वय धारण तथा प्रत्यक्ष करते हैं ॥ (ऋ० १।५८।६)

भावार्थः—जीवात्मा का स्वरूप देदीप्यमान और अत्यन्त सुन्दर है। शब्द मनोहर और स्वभाव देने में न थकना और निरन्तर चलता रहना है। वह जीव अतीव उत्तम है। अविवेक

सेखेच्छु। विवेक से संसार सुख त्यागी है। दोष हीन विज्ञानी आत्मा सर्वोत्तम ऐश्वर्य समझ अपने स्वरूप को योग से प्रत्यक्ष करके मृत्यु से बचने का यत्न करते हैं, बद्ध जीव निज देह के अन्तर एवं बाहर एक स्थान से स्थानान्तर, एक शरीर से शरीरान्तर को चलता वा जाता आता रहता है। सुषुप्ति और समाधि में बिना करणों के बाह्यान्तर का बोध रखता है। प्राणों को नियम में चलाता है। और मोक्ष में वे रोक असाधन स्वतन्त्र विचरता रहता है। स्व स्वरूप को जाने बिना कोई जीव यथार्थ सुख नहीं प्राप्त कर सकता।

सारः—जीव द्रष्टा स्व स्वरूप दर्शक मनोहर स्वरूप, क्रिया शील, सुषुप्ति में अकरण कर्ता एवं ज्ञानवान् तथा प्राण का नियामक है॥ (ऋ० १। ५८। ६)

३०—"आळद्रा सूनो सहसो नो अद्य स्तोतृभ्योमित्र महः शर्म यच्छ। अग्ने गृणन्त मंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः॥ [ऋ० १। ५८। ७]

भाषार्थः—शारीरिक एवं आत्मिक बल से प्रसिद्ध होने तथा मित्र का सत्कार करने हारे, अग्नि तुल्य प्रकाश स्वरूप विद्वान् आत्मन् वर्तमान् शरीर में आत्मस्वरूप के उपदेश से हम को पापाचरण से बचा। भेद रहित पूर्ण सुखों को प्राप्त करा हम प्रशंसकों को पदार्थ विद्या सिखा! हे विद्वानात्मा तू! पराक्रम

से कभी न गिरने वाले स्वस्वरूप स्तोता को स्वर्ण आभूषण सदृश परमात्मा के रचे क्रिया शक्ति युत जीवन रक्षा में समर्थ अन्नादि के साथ अथवा लोह वा स्वर्ण के बने गृहों एवं नगरों द्वारा हम को दुःख तथा दुष्टों से अलग रख॥ (ऋ० १। ५८। ८)

भावार्थः—जीवात्मा ज्योति स्वरूप है। ब्रह्मचर्य से शारीरिक बल प्रेम एवं परोपकार से सामाजिक बल वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास से आत्मिक बल प्राप्त करता है। आत्मज्ञान से पाश से बचता है! कदापि बन्ध एवं मोक्ष में पराक्रम हीन नहीं होता। पदार्थ विज्ञान से ऐश्वर्यवान होकर अयस (लोह) एवं सुवर्ण गृह तथा नगर बनाता है। योगी आत्माओं का कर्तव्य है कि अन्यों को आत्म परमात्म बोध करा के सुखी करें॥ (ऋ० १। ५८। ८)

सारः—जीव अनेक बल प्राप्त कर सकता है। नित्य पराक्रम शील और ज्योति स्वरूप है। (ऋ० १। ५८। ८)

३१—"तपुर्जम्भो वन आवात चोदितो यूथे न साह्वां अववाति वंसगः। अभिव्रजन् नक्षति पाजसा रजः स्थातुश्चरथं भयते पतत्रिणः॥ (ऋ० १। ५८। ५)

भाषार्थः—हे अपने को जड़ शरीर मानने वाले! जो कर्म फलों का प्राप्त करता, प्राणों का प्रेरक सेवकों को सुख के

प्रताप से पूर्ण प्रभावित करने हारा (सब ओर से किरण मय प्रतापी मुख वाला) है। वह अग्नि के सदृश जीव सेना में अध्यक्ष तुल्य शरीरों का सहने (स्वाधीन रखने) और सब प्रकार से क्रियावान् करने वाला। सब ओर जाता आता हुआ भोग्य पदार्थों और न नाश करने योग्य कारण और कार्य शरीरों के बल से घरना एवं वृक्ष में बैठे पक्षी की नाईं भय करता है। वह तुम्हारा स्वरूप है॥ (ऋ० १। ५८। ५)

भावार्थः—आप को बाल, युवा (वा युवती), वृद्ध, पतला, मोटा, छोटा, बड़ा, १०, २०, ३०, ४०, ५०, आदि वर्ष का बताना आदि वार्तायें सर्वथा मूर्खता की हैं। जीवात्मा ही कर्ता 'भोक्ता' दशों इन्द्रियों, दशों प्राणों और चारों अन्तः करणों को सुनना, देखना, सूंघना, चखना, छूना, बोलना खाना, पीना, पकड़ना, चलना, मूत्र मल आदि त्यागना, छींक, डकार, जम्भाई, खाँसी, पलक चलाना, श्वाँस, परिश्वास, स्मरण करना, विवेचन एवं निर्णय करना, अभिमान करना, इच्छा, द्वेष, दुःख सुखानुभव वा संकल्प विकल्पादि करना, मिलना मिलाना, हटना हटाना आदि सर्व बाह्याभ्यन्तर क्रियाओं का करने वाला और नित्य सब कर्म करने की सामार्थ्य युक्त रहता है। शरीर के मुख पर उसी प्रकाश स्वरूप जीव का प्रकाश है। सुषुप्ति में भी वह प्राणों का चालक है। जीव अत्यन्त छोटी ज्योति है॥ (ऋ० १।५८।५)

सारः—जीव इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, लक्षण

युत और सब क्रियाओं का अकरण स्वतन्त्र करने वाला है॥ (ऋ० १। ५८। ५)

३२—"ये समानाः स मनसो जीवा जीवेषु मामकः॥ (यजु० १८। ४६) "जीवान्नो" (ऋ० ७। ६७। ५) इमं जीवेभ्यः" (य० ३५, १५.)

इन तीनों उदाहरणों में "जीव" पद चार वार (जीवाः, जीवेषु, जीवान्, जीवेभ्यः) बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। जिससे जीवों का अनेक होना सिद्ध है। चारों वेद जीवों की अनेकता विविध रूप से सहस्रों वार प्रतिपादिता करते हैं, और प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है।

३३—"[१] [२] [३] [४] [५] [६] [७] [८] [९] [१०] [११]
अपादग्रे समभवत् सोऽग्रे स्वराभरत्।
चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम्॥
(अथ० १०। ७। २१)

भावार्थः—अखण्ड एवं विभाग रहित परमात्मा इस सृष्टि के पहिले तथा अनादि काल से सर्व सामर्थ्ययुत है वह आदर हित समय से मोक्षानन्द धारण करता है। भोगने की योग्यता रखने हारा (भोक्ता) जीवात्मा चार प्रकार की गति (प्राप्ति) अर्थात् शारीरिकोत्पत्ति (प्रसिद्धि) वाला होकर (नाना भांति

आवश्यकीय प्रार्थना।

लेखक महोदय ने संस्कृत प्रचारार्थ शुद्ध शब्दों का प्रयोग और संस्कृत शैली का अनुसरण करते हुये।

ही	के स्थान	पर	हि
नहीं	,,	,,	नहि
साथ	,,	,,	सार्थ
पास	,,	,,	पार्श्व
लोग	,,	,,	लोक
वाला	,,	,,	वारा

आदि पदों का प्रयोग किया था किन्तु प्रूफ संशोधक ने उद्देश को न जानकर भाषा के नियम से संस्कृत शब्दों के स्थान में भाषा पद बना दिये हैं यह प्रूफ संशोधक की भारी भूल है क्योंकि वे लेखक महोदय के उद्देश से भली भांति परिचित न थे अस्तु आशा है वाचक वृन्द ग्रन्थावलोकन के समय में उपर्युक्त पदों का प्रयोग स्वयं करके हमें अनुगृहीत करेंगे।

मुद्रक—

की सर्व योनियों को धारिता करके) सर्व भोगों को प्राप्त करता है ॥ (अथ० १० । ८ । २१)

भावार्थः—परमात्मा नित्य एक रस सर्व शक्तिमान् और सदा मुक्त रहता है । जीवात्मा उस से विरुद्ध न्यूनाधिक शक्ति वाले बद्ध मुक्त तथा जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज चार प्रकार से उत्पन्न होकर सब भोगों को पाते हैं ॥

सारः—जीव ४ प्रकार की उत्पत्ति वाले हैं ॥ (अथ० १० । ८ । २१)

३४—प्रमाण संख्या ५० के पद "पितरश्च द्वशेयं मातरश्च" दर्शाते हैं कि जीव पहिले पिता के शरीर में प्रवेश करता है । तदनन्तर माता के गर्भ में जाता है । इसी कारण ऋचा में शब्द "पितर" पूर्व और 'माता' उत्तर है । और इसी कारण ऋष्युक्ति है कि "पुरुषेह वा अयमादितो गर्भो भवति" आदि (ऐतरेय० अ० २ । श्लो० १), अर्थात् पहले गर्भ पुरुष में होता है पीछे पुरुष से स्त्री में ।

३५..."यो वाचमनुदितां चिकेत" (आयो धर्मा-प्रथमः ससाद" अथ० ५ । १ २)

भाष्यभाषा—जो मुक्त पुनरावर्त्त जीव अलौकिका वा लोक अप्रचलिता वा अप्रकटा वाणी को साक्षात् आत्मस्थ ईश्वर से जानता (पढता) है ॥ (अथ० ५ । १ । २)

भावः—मुक्ति से लौटने पर सर्गारम्भ में जीवों को निराकार ईश्वर वेद पढ़ाता है । प्रमाण सं० १३ का भावार्थ, एवं अथर्व वेद भाष्य परिशिष्ट प० क्षेमकरण कृत पूरे निश्चयार्थ देखें ॥ (अथ० ५ । १ । २)

३६--गर्भे नु सन्नन्वेषा मवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसी ररक्षन्नधश्येनो जवसा निरदीयम् (ऋ० ४।२७।१)

भाषार्थः—हे जिज्ञासु जीवो ! मैं जीवात्मा गर्भ में वास करता हुआ इन दिव्य प्रकाश स्वरूप जीवों की समस्त योनियों को एकसङ्ग निश्चय हो ईश्वर से जानता (जताया जाता) एवं उसकी सहायता से स्मरण करता हूं । मुझ आत्मा को नाना धातुओं के बने असंख्य शरीर एवं योनियां रखाती हैं । देहु वास समाप्त होने पर बाज पक्षी के सदृश वेग से शीघ्र सवथा निकलता हूं ॥ (ऋ० ४।२७।१),

भावार्थः—ईश्वर का उपदेश है कि हे जीवो ! तुमको गर्भावस्था में मैंने तुम्हारे सर्व बुरे भले शरीरों एवं योनियों का तुमको ध्यान दिवाया था, जिससे तुम पुनः बन्धन से छूटने का यत्न करो । शरीर से जीव अत्यन्त तीव्र चाल से निकलता है । पुनः उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता ।

सारः—जीव की असंख्य योनि है गर्भ में सब जान लेता है ॥ (ऋ० ४।२७।१)

बहुशः वेदोपदिष्ट उपर्युक्तजैव गुण कर्म स्वभावादि में से कतिपय गुणादि के प्रति पादक सुलभ एवं बालबोधक आर्ष-वचन भी यहां उभय वेदोपनिषदस्थ आत्म ज्ञान के सापेक्ष प्रदर्शनार्थ उल्लिखित किये जाते हैं जिससे वेदानभिज्ञों को बोध हो जावे कि पूर्ण पराविद्या और निवृत्ति मार्ग का वास्तविक उपदेश तो वेदों में ही हैं। उपनिषदों में ऋषियों ने अपने पूर्ण वैदिक ज्ञान का केवल अल्पांश बाल बोधार्थ लिख दिया है।

(३७) "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदतव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश, प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभत्येष आत्मा ॥ (मु० ५२) अर्थात् यह अत्यन्त छोटा (अणु-परिमाण) जीवात्मा प्राण जिसके अधिकार में पाँच प्रकार से रहता है, चिन्तन शक्ति से जानना चाहिये, प्रजाओं (आत्माओं) की सब चिन्तन शक्ति प्राणों से (लगी) हुई है जिस (प्राण) के शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा अपने महत्व की उच्चतम शिखर पर पहुंच जाता है ॥ (मु० ५२)

(३८) "एतत् प्राणाम् ग्रहीत्वा स्वशरीरे यथा कामं परिवर्त्तते।" (वृद्धारण्यक २।१।१) अर्थात् यह जीव प्राणों के संग अपने देह में स्वेच्छानुसार सब ओर भ्रमण करता है ॥ (वृ० २।१।१)

(३९) "सवाएष आत्मा हृदि" (छा० ३०।८।३।३) अर्थात् यह जीव सामान्यतया हृदय में रहता है ॥ (छा० ८।३।३)

(४०) "उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्" (वेदान्त० २।३।३९) अर्थात् ऊपर जाने वा निकलने और आने जाने से आत्मा क्रिया शील सिद्ध है ॥ (वे० २।३।३९)

(४१) "व्यवस्थातोनाना" (वैशेषिक० ३।२।२०) अर्थात् योनियों, शरारों एवं दुःख सुख, स्वप्न, सुषुप्ति, जागृति, बन्धन और मोक्ष आदि अवस्थाओं की प्रतिपादिका (सिद्ध करने वाली) व्यवस्थाओं से जीवों की अनेकता सिद्ध होती है ॥ वै० ३।२।२०)

(४२) "एष हि द्रष्टा स्पष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ॥ सपरे अक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न० ४।९) अर्थात् यह ज्ञान क्रिया शक्ति युत जीवात्मा ही द्रष्टा, देखने, छूने, सुनने, सूंघने, चखने, मानने अर्थात् अभिमान करने, दुःख सुख मानने, एवं मनन (विचार) करके निर्णय करने, जानने, जान कर स्मरण करने तथा अन्य सब ही इन्द्रियों और प्राणों आदि की क्रियाओं तथा संयोजन, वियोजन आदि सब कर्मों का कर्त्ता है। इन्द्रियादि सब करण मात्र हैं ॥ (प्रश्न० ४।९)

(४३) "आत्मगुण कर्मसु मोक्षो व्याख्याता" (वैशेषिक० ६।२।१७) आत्म कर्म नाम समाधि वा योग का है जिसमें करणों का प्रयोग नहीं होता, साक्षात् आत्मा परमात्मा से

मिलता, दर्शन एवं भाषणादि करता है ॥ (वै० ६।२।१७) इससे आत्म कर्म, मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष हो गया ॥

(४४) "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति, देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टंचादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति" (प्रश्न० ४।५)

भाषार्थः—इस शरीर में यह प्रकाश स्वरूप दिव्य शक्तियुत जीव स्वप्नावस्था में अपने महत्व का अनुभव करता है। जो कुछ देख चुका है उसको फिर देखता है, सुने हुए विषय को सुनता है। सापेक्ष जांचे हुए देश (स्थान) दिशा और अन्तर् दिशाओं एवं उनके पदार्थों का पुनः मिलान और परीक्षण करता है! देखे और न देखे, सुने और न सुने, जांचे और न जांचे, नित्य एवं अनित्य सब ही पदार्थों को देखता है ॥ (प्र० ४।५)

(४५) "स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति अथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥ (प्रश्न० ४।६) अर्थात् जब तेज से प्रभावित हो जाता उस समय यह ज्योति स्वरूप जीव स्वप्नों को नहीं देखता। पश्चात् वह इस शरीर में इस सुषुप्ति के सुख को प्राप्त करता है ॥ (प्र० ४।६)

(४६) "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥ (कठ० २ ३।३,४)

भाषार्थः—हे जिज्ञासु जीव! आत्मा को रथ का स्वामी और शरीर को केवल रथ गाड़ी, जान और बुद्धि अन्तःकरण को हांकने (चलाने) वाला जान और मन को लगाम वा रास मात्र जान ॥ इन्द्रियाँ घोड़े कहे जाते हैं और विषय उनके चरण स्थान ॥ इन्द्रियों और मन के योग से आत्मा को विचारशील जन भोक्ता कहते हैं ॥ (कठ० २।३।३।४)

जो रथ रथी सम्बन्ध आत्मा का शरीर से यहां दिखाया है वह मन्त्र संख्या १८ में भी दिखाया गया है तथापि एक और मन्त्र इसी भाव का द्योतक लिखा जाता है।

(४७) "आवां रथो रोदसी वद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः । घृतवतनिः पविभीरुचान इषां वोढनृहा पतिर्वाजिनीवान् ॥ (ऋ० ७।६८।१)

भाषार्थः—हे रानी राजा अब तुम्हारा (प्रत्येक का) शरीर रूपी रथ चमकीला, बलवान् इन्द्रिय दश घोड़ों से युक्त वीर्य की बत्ती से प्रकाशित, विद्युत् युत पवित्र करने वाले प्राणों से शोभायमान्, बल एवं ऐश्वर्योत्पादन शक्ति सम्पन्न इष्ट बल ऐश्वर्यों का साधन है। उस में स्थित शरीर वाहन इन्द्रियादि के तुल्य प्रजाओं के रक्षक आत्म रूप राजा तुम सूर्य पृथिवी के मध्य बिना रोक सब ओर विजय करते हुए जाओ आओ ॥ (ऋ० ७।६६।१)

भावार्थ :—ईश्वर अपने अमृत पुत्र जीवों को उपदेश करता है कि हे मिथ्या जड़ाभिमानियो ! यह रम्य शरीर तुम्हारा रथ है ! इन्द्रियां इसमें अश्व स्थानी हैं। ओज, वीर्य, एवं प्राणों से प्रकाशमान हो रहा है। प्रति क्षण प्राणों द्वारा इसका संशोधन होता रहता है। इसमें इन्द्रियादि सर्व दशनः स्वशनादि मन्त्र ३१ उक्त २४ क्रियाओं तथा अन्यान्य बल ऐश्वर्य प्राप्ति के साधन हैं। जिनके द्वारा सर्व क्रियाओं का कर्त्ता जैसा जीवात्मा उनका राजा (अध्यक्ष और रक्षक) है, ऐसा ही राज्य रूपी शरीर की प्रजायें इन्द्रियां हैं, और प्रजाओं से पितृ स्नेह का वर्त्ताव राज्य प्रकाशक और विद्युत् वायु आदि विद्याओं से प्रजाओं में ऐश्वर्य की संप्राप्ति से शारीरिक, मानसिक उन्नति सद्वृत्त रानी राजा !जीवों को 'राज्य की उन्नति करनी चाहिये ॥ (ऋ० ७।६६।१)

॥ अथ उपर्युक्त प्रमाणानां फल प्रदर्शनम् ॥

जीवों का नित्यत्व

उपर्युक्त मन्त्र सं० २,३,४,११,१३,१७,२०,२३,२४ एवं २५ के क्रमशः शब्द, अज, अमृत, अमृत, आदह ... मेरिरे यमेनये—मदन्ति, आनन्त्याय कल्पते, पूष्यं, त इमे समासते, अमर्त्यः, अजर, से सिद्ध है।

'अज' का अर्थ अजन्मा (बे बना) है। बनने का अर्थ अवयवों का किसी विशेष रूप का आकार में मिलना है। मिले हुए अवयवों का अलग अलग हो जाना नाश प्रलय एवं अनित्यत्व कहाती है। जो पदार्थ बना वा जन्मा नहीं, और जिसमें अवयव (खण्ड वा टुकड़े) नहीं हैं उसमें से अलग अलग क्या होगा और वह नष्ट कैसे होगा, जब बिगड़ेगा नहीं, ज्यों का त्यों ही बना रहेगा तब वह अवश्य अनाश और नित्य कहावेगा। 'अमृत' का अर्थ स्पष्ट अनाश और नित्य है ही।

'आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे' का अर्थ मुक्ति से लौट आना है, इससे यह प्रत्यक्ष हो जाता कि जीव मोक्ष में उपस्थित रहा था तब ही तो लौटा। अतएव नित्य है, 'यमेनये सधमादं मदन्ति, जो सर्व नियामक जगदीश्वर के सहवास से मुक्त्यानन्द को पाते हैं, इस वाक्य से मोक्षाश्रम में मुक्त जीवों का ईश्वर के संग रहना प्रत्यक्ष है) न वे नष्ट हो जाते हैं, न ब्रह्म बन जाते हैं। नित्य एक रस स्वरूपतः उपस्थित रहते हैं ॥

'आनन्त्याय, = अनन्तायै = अनन्तता को समर्थ है अर्थात्

अनन्त है । जो अनन्तकाल तक रहता है वह ही नित्य है क्योंकि अनादि (बेबना) पहले दिखा चुके हैं । सब से पूर्व मन्त्र से स्वयम्भू = स्वयं सिद्ध = अनादि सिद्ध है हो ।

'पूर्व्य, का अर्थ भी नित्यत्व साधक है ।

'त इमे समासते' यमेन०, के सार्थ पढ़ने योग्य हैं ।

'अमर्त्य' और 'अजर' पुनः पुनरुक्तार्थ 'जीवन-नित्यत्व' के पोषक हैं ।

अतएव सिद्ध हुआ कि जीव का काल कृत न आदि है और अन्त, इस लिये जीवों का (प्रकृति व ब्रह्म से) बनना, एवं जीव (एक आकार से अवयववत्) उधिड़कर जीव से ब्रह्म वा बीजां कुरवत् जीव से ईश्वर बन जाना दोनों बातें सर्वथा मूर्खता की हैं । और नितान्तहेय ॥ (८७)

जीवों का चेतनत्व ।

मन्त्र संख्या—५, ६, १६, २३ और २७ के पद 'मितमेधा' 'जागार' (अंशु, 'यस्तन्न वेद' ता इत्तद्विदः (मेधिरः, शियुः), से प्रत्यक्ष है, मितमेधा = परमिता बुद्धि = अल्पज्ञ, ज्ञानवान् को ही चेतन कहते हैं इसमें किसी चेतन पदार्थज्ञ को सन्देह नहीं, न जानने वालों के लिये 'चित्' चिति चिती, संचेतने, संज्ञाने, स्मृत्याम्, (धातु पाठ) तथा जानना, देखना, ध्यान देना, निरूपण करना, समझना, प्रकट, प्रकाशित होना आदि (आप्टे० क्रोश) तथैव अन्यत्र अनेक ज्ञान एवं क्रियात्मिक अर्थ पाये जाते

हैं, जिनसे "चेतन, पद का अर्थ ज्ञान क्रिया युत वस्तु सिद्ध है, यहां जीवात्मा के लिये 'मितमेधा, पद आया है ।

अतएव जीवात्मा चेतन और ज्ञानी होने के अतिरिक्त अनेक दर्शनादि क्रियाओं का करने वाला है । चेतन, पदार्थ की चेतनता जैसा नित्यगुण है ऐसे ही ज्ञान तथा क्रिया शक्ति भी उसका स्वाभाविक गुण है । दर्शन शक्ति युत को ही द्रष्टा कहते है । अद्रष्टा कदापि नहीं कहा जा सकता ।

"जागार" का अर्थ जागरूक वा जागने वाला वा जागता है । जड में जागृति नहीं होती, जागृति और चैतन्य पर्याय हैं ।

(अंशु) = परमात्मा का अंश सदृश, परमात्मा चेतन है अतः उसका अंश समान होने से जीव भी चेतन सिद्ध हुआ ।

"यो न वेद" "ये विदुः" जो नहीं जानता और जो जानते हैं । ये दोनों पद भी जीवों की चेतनता संसिद्ध करते हैं क्योंकि जानना चेतन आत्मा का गुण है ।

"मेधिरः, "शयुः" पद का अर्थ (जगाया जाने-जागने-वाला, वा सुवाया जाने-सोने-हारा,) भी चेतन में घटता है, जड़ में नहीं" अतएव जीवात्मा चेतन और नित्य सर्वज्ञान, क्रिया बल युक्त है' कदापि निमेष मात्र के लिये ज्ञान क्रिया अयुक्त नहीं कहा जा सकता ॥ [८८]

गमन वा चलन (चरण) चलना क्रिया भी जीवात्मा में नित्य है ।

यह भी २। १४। १६। १८। २६। मन्त्रों के क्रमशः पद "अज" "वेः, चरण, सूर्य" "सिन्धूनाम्" "मनसोजवीयान्" "अतिथिम्" से विस्पष्ट है।

"अज्" गतिक्षेपणयोः, अच्, अजः=गति (ज्ञान, गमन, प्राप्ति) शील=चलने के स्वभाव वाला जीवात्मा ॥

"वेः" (वेतेर्गति कर्षणो रूपम्, निघ०२।१४) वी, चर, दोनों धातुओं का अर्थ चलना है, सृ गमन=चलन अर्थक धातु से भी सूर्य पद सिद्ध है। अतएव वेः, आदि तीनों पदों से जो जीव के लिये मन्त्र में पढ़े हैं, जीव को स्वाभाविक चलने हारा प्रतिपादित करते हैं वेः का अर्थ भाष्यकार "स्वाभाविक चलने वाला जीव" मानता है।

"सिन्धूनाम्, यह पद स्पन्दन शीलों, स्वभाव से तीव्र चलने वाले चेतनात्माओं से प्रकृति की अपेक्षा युक्ततर है।

"मनसो जवीयान्" पद के आगे मन्त्र में पद "अहं" आया है 'अहं=मैं, वक्ता, आत्मा मन से तीव्रगामी हूं। इससे भी आत्मा नित्य चलने की क्रिया वाला सिद्ध है। अह् (भाषणेषु) × अच्, ततो अहं सिध्यते।

"अतिथि" पद, अत् (सातत्य गमने) निरन्तर चलना, धातु में 'इथिन, प्रत्यय लग कर बनता है' इसका भी अर्थ निरन्तर वा

स्वाभाविक चलने वाला है। अतएव उक्त पदों से जीवात्मा स्वाभाविक चलाने वाला सिद्ध है! और जितने भ्रम जीवात्मा के गति शून्य विषयक संसार में फैले हैं वे सर्वथा निरस्त खण्डित हो गये। मोक्ष आ[illegible]व में यथेष्ट चलता रहना भी इसका सर्वोत्तम साक्षी है [illegible]क० मन्त्र २८), इस "अनुकामं चरणं" पद रूपी विद्या [illegible] सूर्य को अविद्या वा अन्यथा का अभ्र सदा के लिये नहीं तिरोहित कर (छिपा) सकता।

निरवयव पदार्थ को अक्रिय कल्पित करने वाली मृषा उक्ति के अन्यथात्व तथा वृथा युक्ति के युक्त्याभासत्व को परमाणु पदार्थ प्रकट एवं विनष्ट कर देते हैं क्योंकि वे निरवयव होते हुए सृष्टि आरम्भ काल में परमात्म ज्ञानानुकूल एक दूसरे से परस्पर मिल कर अनेकों रूप और आकारों को धारित करते हैं। और फिर प्रलयकाल में विकर्षित वा एक दूसरे से अलग अलग हो जाते हैं। कार्य जड़ पदार्थों की क्रिया प्रत्यक्ष है। जिसके जीव को अक्रिय मानने वाले भी मानते हैं' वह कार्य की क्रिया भी कारण परमाणुवों में क्रिया सिद्धा करती है। कारण गुण पूर्वकः गुणो द्रष्टः। (वै० २। २४) अर्थात् जो गुण कारण में होते हैं वे ही कार्य में होंगे।

इस लिये सब प्राचीन, नवीन मतावलम्बियों एवं भावी मतों के स्थापक स्वमत चालकों को उचित है कि मुक्ति पदार्थ विचारें। बद्ध जीव यौगिक बल से अन्य लोकों में जा सकता है। विमानों में बैठ कर अन्तरिक्ष में भ्रमण कर सकता है। जल

स्थल यानों एवं शारीरिक रथ में चढ़ा हुआ भू. आदि अपने अपने लोक में विहर सकता है। तो जब मुक्त हुआ तब कील से जकड़े के समान अणु भर भी न हिल सके यह कहाँ का न्याय है। इस कोरे अन्याय को वेद शास्त्र एवं बुद्धि की कसौटी पर कस कर हृदय से फेंक दें।

जो कि जीवात्मा को कूटस्थ मानते हैं और कूटस्थ पद का अर्थ अक्रिय करते और कहते हैं कि सावयव पदार्थ सक्रिय होता है निरवयव नहीं उनको चाहिये निरवयव विषयक उपर्युक्त पंक्तियां पढ़ें। और यह विचारें कि कूटस्थत्व पद का अर्थ स्वरुपस्थ अर्थात् अविकारी एवं अपरिणमी है। अक्रिय नहीं। कूटस्थत्व ब्रह्म के लिये मुख्य है। वह अविकारी अपरिणामी होता हुआ अनन्त स्वरूप सर्व व्यापक होने से अचर भी है। जीव अणु परिमाण, परिच्छिन्न, एक देशी है और इस लिये सर्व देशगामी हां स्वरूप से एक रस है। तथापि अचर नहीं।

जब शारीरिक कर्म वश देह रुग्ण एवं असमर्थ होता है तब देह के लिये वाहन चाहता है। स्वस्थ एवं समर्थ होने पर नहीं एवमेव जीवात्मा अविवेक रूपी आत्म कर्माधीन क्षुधा, पिपासादि विषय वासना रूपी रोग ग्रस्त बन्धन नामी असमर्थता स्वरूप में जकड़ा हुआ देह दश साधनों द्वारा निज क्रिया शक्ति को प्रकट करता हुआ दर्शा रहा है कि इतना भार उठाने पर भी मैं कभी कभी वायु के संग दौड़ता हूं। यदि यह भार जिस का अनुमान असम्भव हैं मैंने फेंक पाया तो मेरी चाल देखना

मन के वेग से मेरा वेग कहीं बढ़ चढ़ कर है (उपर्युक्त "मन सोजवीयान्" पद देखें) (८६)॥

"जीवात्माओं में नित्य स्वाभाविक अल्पज्ञान एवं शक्ति है"

यह विषय उपर्युक्त मन्त्र संख्याः—२, ४, ६; ११, १५, १६, २१, २४, २५, २६, ३०, ३१, से दिवस (दिन) वत् प्रत्यक्ष है क्रमशः देखियेः—

२—"अजो अग्निरजमुज्योतिराहु·····" यह मन्त्र केवल जीवात्म परक है। इसमें ४ वार पद 'अजः, जीव के अर्थ आया है जिसके अर्थ अजन्मा, ज्ञान क्रिया युत आदि हैं' जिससे सिद्ध है कि 'अज, नामधारी जीवात्मा नित्य ज्ञान क्रियावान है और फिर "अजस्तमांस्यपहन्ति दूरम्" यह पद साक्षात् (अज) जीवको कर्त्ता अविद्यानाशक दिखाकर स्पष्ट ज्ञान क्रिया स्वभाव युत दर्शाता है।

(४) "नृचित् सहोजा अमृतो·····" यह मन्त्र भी अध्यक्ष जीव स्वरूप एवं शरीरों का अधिष्ठान (ठहरने का स्थान) होना दिखाता है जीव को अमृत, सहोजा, दूत, होता देवताता आदि और तीनों शरीरों को अधिष्ठान (साधिष्ठेभि=अधिष्ठानों के सार्थ) कहा है।

'अमृत, का मुख्य अर्थ' नित्य 'ज्ञान क्रियायुत, है अर्थात् जो नहीं मरता, ज्ञान क्रिया हीन नहीं होता है। पूर्ण ज्ञान और वास्त-

विक एवं सर्वथा स्वतन्त्र क्रिया मुक्ति अवस्था में ही होती है। अतः उस समय जीव को मुख्यतः अमृत कहते है। ब्रह्म नित्य मुक्त है इसलिये वह नित्य यथार्थ सर्वतः अमृत है।

इस से ही जीव में स्वाभाविक स्वसत्ता ज्ञान और क्रिया सिद्ध हैं। और पुनः इस अमृत जीव को अन्य नितुन्दते आदि सब क्रियाओं का कर्त्ता और सहोजादि पदों से कर्मों का साधक निश्चित कराया है। अतएव इस जीव का स्वाभाविक ज्ञान क्रियावान् होना विस्पष्ट दीखता है।

(ङ) "अग्निर्जागार·····" इस ऋचा में जीव को (चेतन=जागनेवाला) अग्नि कहा है। शब्द चेतन का अर्थ (ज्ञान क्रिया युत) पूर्व दर्शाया जा चुका है, जड़ अग्निः क्रियावान् और ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष है चेतन अग्निः जीव स्वयं साक्षात् ज्ञान का साधक और सक्रिय है। इसमें किसी को सन्देह लव कहां। और फिर ऋचाओं (वेदों) का पढ़ना उक्त विषय का वलिष्ठतम पोषक है। तिस पर परमात्मा सम्बोधित करके कहते हैं "हे सखा मैं तेरा नित्य निवास स्थान हूं। शब्द "सखा" समानं ख्यातीति सखा, (उणादि० ४।१३७) पदार्थ ने जीव को नित्य ज्ञान क्रिया, बल, पराक्रम, प्रकाशादि युत परमात्मा दृश विस्पष्ट सिद्ध कर दिया। केवल स्वरूपों के भेद अनुसार इतना अन्तर रहा कि जीव अत्यन्त लघु है उसमें उक्त सब गुण अत्यन्त अल्प हैं; और ब्रह्म अत्यन्त महान् है उसमें ये सब अनन्त हैं।

११—"कोऽदात् कस्मा अदात्·····कामैतत्" इस मन्त्र में 'कामाय' कामः एवं काम, ये तीन पद जीव के लिये आये हैं इनसे भी सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान क्रियावान् है क्योंकि कामना वा इच्छा स्वरूप चेतन जीव के ही कह सकते हैं जड़ प्रकृति को नहीं इसी चेतनता के कारण "काम, पद परमेश्वर के लिये भी आया है॥

१५—"पात्यग्निर्विपो अग्रंपदं वेः·····देवानामुपपादमृक्ष," इस मन्त्र में जीव ब्रह्म दोनों का वर्णन है। वेः, चरणं, सूर्यस्य, सप्तशीर्षाणम्-देवानामुपमादम्, ये पद मुख्यतया जीव के लिये प्रयुक्त हुए हैं:-'वी' चर, और "सृ" धातुओं के (जिनसे ये वेः आदि पद बने हैं) के अर्थ ज्ञान, क्रियात्मिक हैं और चलना, खाना, जाने की इच्छा वा जानने का यत्न करना या धर्म जीव के ही हो सकते हैं न ब्रह्म के, न प्रकृति के, अग्ने सप्तशीर्षाणम् (सात, चित बुद्धि ५ ज्ञानेन्द्रियां शिर में रखने हारे को) तथा देवानामुपमादम् (इन्द्रियों के क्रोडक को) ये दोनों पद जीव के लिये स्पष्ट पढ़े गए हैं। अतः ये पांचों पद जीव वाचक और जीवों को स्वाभाविक ज्ञान क्रियायुत सिद्ध करते हैं॥

१६—"एष रुक्मभिरीयते·····भवन्" इस ऋचा में मुख्यपद अंशुः जीवात्मा के लिये उपदिष्ट है। जैसा अनन्त स्वरूप परमात्मा नित्य सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, सर्व कर्मों का कर्त्ता है वैसाही सान्त (परिच्छिन्न) एवं अत्यन्त छोटा जीवात्मा

नित्य अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान और नित्य किसी न किसी कर्म का कर्त्ता है ।

१६—"को वोऽन्तर्मरुत……नैतशः, यह ऋचा सर्वथा जीव को अकरण स्वतन्त्र कर्त्ता, बुद्धि आदि अन्तःकरणों प्राणों एवं इन्द्रियों का प्रेरक चालक तथा सूक्ष्म स्थूल देहों का बुद्धि पूर्वक नियामक सिद्ध करती है। और सब अङ्गों का केवल करण होना भी निश्चित करती है।

ज्ञान और कर्तृत्व जीव का बहुधा स्वाभाविक सिद्ध होता है। इस ऋचा में आत्मना (त्मना) शब्द से जीव का अकरण कर्तृत्व पुनरपि सिद्ध होने से यह और भी देदीप्यमान हो गया कि बन्धन में जीव अन्तःकरणों और प्राणों का साक्षात् स्वयं (अकरण) चलाने वाला है। बाह्य सूक्ष्म स्थूल इन्द्रियों एवं अङ्गों अन्तःकरणों के द्वारा चलाता है। और यह कि मोक्षाश्रम में तीनों देहों से निकलकर मुक्ति उचित सब क्रियायें दर्शन, स्पर्शन यथेष्ट विचरन (विचरना) आनन्द अनुभवन आदि सर्वतः सर्वथा अकरण क्रिया करता है। सव्यवधान (दूरस्थ) वा सान्तर पदार्थ से क्रिया करने के लिये साधनों की अवर्जनीयता होती है अत्यन्त निकट आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन स्पर्शन में किसी की नहीं।

२१—"आस्वमद्म युवमाना अजर……"इस ऋचा में जीव का चेतनत्व, शरीरों का जड़त्व अत्येानपृष्ठं, पद सिद्ध करता है। 'युवमानो, (मिलान अलग करने वाला),

अदिध्यन् (देह रक्षक) अतसेषु, तिष्ठति (व्याप्तव्य एवं विस्तृत आकाशादि पञ्च महाभूतों में वास करने हारा), दिवः सानु न रोचते (सूर्य से पर्वत की चोटी आदिवत् प्रकाशित होता है), स्तनयन् अचिक्रदत् (विद्युत् सदृश शब्द करता है) आ खं तृषु अद्य (अपने किये कर्म फलों को नाना विध भोक्ता), ये पद जीवात्मा के साक्षात् कर्त्तापन एवं स्वाभाविक ज्ञान के प्रकाशक हैं इसमें किंचित् कथञ्चिदपि सन्देह नहीं हो सकता।

२४—"क्राणा रुद्रेभिर्वसुभिः.. ऋण्वति" यह ऋचा केवल जीव विषयक है:—क्राणा (योनि अनुकूल भाषी) पुरोहित (शरीर अध्यक्ष), होता (देहादि का धर्त्ता एवं ग्रहण करने हारा), रयिषाड़ (ऐश्वर्य की प्राप्ति, एवं भोग करने वाला) ऋञ्जसानः (कृत कर्म फलों का पाने वाला), आयुषु (जीवनों वा योनियों में), वार्या ऋण्वति (ग्रहणीय पदार्थों को अनेक भांति ग्रहण करता है), ये पद मुख्यतया जीव की स्वाभाविक ज्ञान और क्रिया को स्पष्टतया सिद्ध करते हैं बिना ज्ञान के क्रियायें हो नहीं सकतीं। शरीर का जड़त्व भी सिद्ध है।

२५—"विवात जूतो अतसेषु तिष्ठति…" इस ऋचा के निम्न पद और भी विस्पष्टता से जड़ शरीर और चेतन आत्मा का भेद दिखाते हुए (वातजूतः = प्राणों का प्रेरक), तु विष्वणिः (बहुत पदार्थों का भोक्ता), आदि जीवात्मा को ज्ञान क्रियावान् सिद्ध करते हैं।

२६—"दधुष्ट्वा भृगवो मनुषेष्वा .." इस ऋचा में भृगवः

(परिपक्व ज्ञानी), होतारम् (और लेने हारे को), अतिथिम् (निरन्तर गमनशील), शेवम् (सुख पाने और त्यागने वाले), ये पद, नित्य ज्ञान, क्रिया जीव में दर्शाते हैं, और 'त्वा' और 'अग्ने' पदों से ईश्वर का जीव को सम्बोधित करना भी उस (जीव) के ज्ञानी और प्रकाश स्वरूप होने एवं उसकी क्रिया शीलता की सर्वोत्तम साक्षी है ।

३०—"अच्छिद्रा सूनो सहसा नो अद्य....." इस ऋचा के प्रायः सब शब्द जीवात्मा को स्वाभाविक क्रिया युत एवं ज्ञानवान् प्रति पादित करते हैं ।

३१—"तपुर्जम्भो वन आ वात चोदितो..." इस ऋचा से भी उपर्युक्त ऋचा की नाईं जीव का क्रिया स्वभावत्व एवं ज्ञान वत्तत्व स्पष्ट प्रकट है ।

२''' ३१,१३ मन्त्रों से जीवात्मा स्वाभाविक ज्ञान एवं क्रिया युत सिद्ध है । कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देहें जड़ और साधन मात्र हैं । कारण देह वास कुटिया, सूक्ष्म क्रियाओं का साधन समूह और स्थूल देह कार्यालय है । जितनी क्रियायें सूक्ष्म और स्थूल अङ्गों से प्रकाशित होती हैं । उनके करने का ज्ञान और शक्ति केवल आत्मा में है और वह ही उनका कर्ता हैं यह पहले कहा गया है कि अन्तःकरणों और प्राणों को जीव आप ही अकरण क्रियावान् करता हैं 'पुनः' वाह्य सूक्ष्म इन्द्रियां एवं स्थूल अङ्ग उन अन्तःकरणों के द्वारा चलाता है ।

जीव की चेतनता एवं सत्ता के साक्षी अन्य विवेकी विद्वान्

भी हैं यथाः—(१)"नोऽभावो विद्यतेऽभावात् नो भावो विद्यतेऽसतः" भगवद्गीता (व्यास) (२) "नथिङ्ग कैनकम् फ्रामनथिङ्ग" (न्यूटन) । (३) "ऐक्स निहोलो निहिल फिट" (लैटिन भाषा) । (४) "ओम्नी वाइवम् ऐववोवो" (फ्रेञ्च भाषा) । अर्थात् (१) न नकुछ से कुछ हो सकता है और नहीं कुछ से न कुछ रह सकता है । २।३।४ न कुछ से न कुछ ही प्राप्त हो सकता है । अर्थात् न कुछ से कुछ नहीं हो सकता है ।

तात्पर्य यह है कि चेतन जीव न मानें, तो न जड़ में से चेतनता निकल और न उत्पन्न हो सकती है, और नहीं चेतन की स्वाभाविक चेतनता वा ज्ञान क्रियावत्ता कभी उससे पृथक् हो सकती है । अतएव जीवात्माओं का ज्ञान प्रयत्न स्वाभाविक गुण सिद्ध हैं । (६०)

'जीवात्मा का प्रकाश स्वरूप होना'

मन्त्र संख्या—१,२,४,६,१५,१६,२१,२४,२५,२६ और ३० के क्रमशः पदोंः—१—सूर्याय, २ अजो अग्नि, (अजो ज्योतिः) ४ (चित् देवताता), ६ —अग्निः १५—सूर्यस्य, १६—(रुक्मभिरं शुभिः,) २१—(रोचते, दिवोन सानु), २४—देवः २५—(रुशदूर्मेः, अग्निः), २६—अग्निः, ३०—अग्निः से सर्वतः सर्वथा सिद्ध है ।

"सूर्याय,,=सूर्य तुल्य प्रकाशस्वरूप जीव के लिये, "अजो अग्निः,,=अजन्मा प्रकाश स्वरूप जीवात्मा के लिए, "अजो

ज्योतिः" = नित्यज्ञान क्रिया शील ज्योति स्वरूप जीव के लिये । (चित् देवताता),, = विद्युदिव जड़ प्रकाशों में चेतन प्रकाश 'जीव, "सूर्यस्य,, = देदीप्यमान इन्द्रियाँ प्रेरक जीव का "रुक्मभिरंशुभिः,, दीप्ति (प्रकाश) मान अत्यन्त छोटे जीवात्मा से ॥ "रोचते, प्रकाशमान होता है । "दिवोन सानु,, सूर्य से अभ्रादि वत् जीव प्रकाशमान होता है । "देवः" दिव्य दर्शनादि शक्ति युत प्रकाश स्वरूप जीवात्मा । "रुशद्भैरग्निः" श्वेत तीक्ष्ण विद्युत् के समान प्रकाश स्वरूप संयोजक वियोजक जीव "अग्निः, अग्नि ,, प्रकाश स्वरूप ज्ञान क्रिया शील जीवात्मा ॥

जो पदार्थ प्रकाशमान है उस के दर्शनीय, दृश्य होने एवं देखे जाने में तो सन्देह ही कैसे हो सकता है । यदि वह प्रकाश स्वरूप पदार्थ चेतन जीव तथा ब्रह्म है तो वह द्रष्टा, दर्शक अर्थात् देखने और दिखाने वाला भी मानना पड़ेगा । केवल विषय में सचेतता वा सावधानता और अचेतता वा असावधानता लक्ष्य में रखनी होगी यदि जीवात्मा अचेत वा पागल है तो द्रष्टा वा साक्षी न कहेंगे परन्तु यदि वह ही सचेत हो जावे तो अवश्य साक्षित्व का अधिकरी होगा । (६१)

"जीव का द्रष्टा और दर्शक होना"

मन्त्र संख्या ६।६।१४ और २२ के पदों दृश्यते 'अग्निर्जागार' "पश्यन्तः" आत्मनात्मानमभिसंविवेश" से बुद्धि प्रत्यक्ष है ।

'दृश्यते' = आत्म दर्शन शक्ति से प्रत्यक्ष होता है ।

'पश्यन्तः' = आत्म दर्शन शक्ति से प्रत्यक्ष करते हुए ।

"अग्निर्जागार" = चेतन जीवात्मा मन्त्र एवं मन्त्रार्थ दर्शक (ऋषि) होता है । आत्मना.....संविवेशः = आत्म शक्ति से सर्वतः प्रत्यक्ष तथा परमात्मा को प्राप्त करता है ।

उपर्युक्त पदों से जीवात्मा के द्रष्टा वा दर्शक न होने के बाल सन्देह का पुनः पुनः नाश होता है । प्रकाश स्वरूपता भी चेतन पदार्थ के साक्षात् द्रष्टा होने की साक्षी सिद्ध की जा चुकी है । जीव का द्रष्टापन (यजु० २० । २१, ३५ । १४, ३८ । २४) मन्त्रों के वयं पश्यन्तः (हम योगी आत्मा (प्रेक्षमाणा) प्रत्यक्ष करते हुए) पद से तथा "तद्विष्णोः परमे पद ꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः" (ऋ० १ । २२ । २०) अर्थात् उस सर्व व्यापक सर्व पोषक परमेश्वर के अत्यन्त उत्तम प्रकाश स्वरूप को योगी आत्मा सदा आत्म दर्शन शक्ति से देखा करते हैं । इस ऋचा से और ऐसे ही बहुशः अन्य ऋचाओं से जीवों का द्रष्टा होना सिद्ध है ।

अब बाल भ्रम निवारणार्थ पुनरपि प्रवचन करते हैं कि जीव को दर्शन शक्ति हीन तथा बुद्धि के तादात्म्य संयोग से दर्शक समझना मत ऐसा ही है जैसा जिह्वा 'प्राण' और मन आदि को वक्ता वा कर्ता जानने हारा मत है ।

हम पहले दिखा चुके हैं कि जड़ पदार्थों में कर्तृत्व नहीं हो सकता, कर्ता चेतन ही हो सकता है और यह कि बुद्धि से सिद्ध होने वाला पदार्थ अनित्य होता है । (न्याय० ४ । १ । ५०) उक्त मतवादी बुद्धि को जड़ भी स्वीकृता करते हैं । जब आत्मा

द्रष्टा नहीं । बुद्धि दृष्ट को किस शक्ति से आत्मा जान सकता है क्योंकि दर्शन शक्ति भिन्न श्रोत्र में उपनेत्र नहीं लगाया जाता और न अन्धी आँख पर बुद्धि ज्ञान हीन है वह आत्मा को बता नहीं सकती । पहिले तो वे बुद्धि के संयोग से द्रष्टा कह चुके हैं द्रष्टा के स्थान में ज्ञाता नहीं रख सकते, यदि दुर्जन तोष न्याय से द्रष्टा का अर्थ ज्ञाता भी कल्पित करलें जैसा कि "तस्मिन् दृष्टे परावरे" वाक्य में वे दृष्टे का अर्थ बुद्धि गत होना मानते हैं । तो यह कल्पना किसी भी विद्वान् एवं बुद्धिमान् को ग्राह्य नहीं हो सकती । क्योंकि वेद 'शास्त्र' ऋषि एवं मुनि अपितु साधारण जनों के ज्ञान के विरुद्ध है । ऊपर "तद्विष्णो परमंपदꣳसदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ (य० ६। ५) उस सर्व व्यापक जगदीश्वर के अत्यन्त ज्ञेय एवं प्राप्तव्य स्वरूप को विद्वान् योगी आत्मा सर्व काल में उसी भांति देखते हैं जैसे कि आंख फैला कर (खोल कर) सूर्य को । यहां आंख की आत्म दर्शन शक्तिको और सूर्य की उपमा सब सूर्यों के सूर्य परमेश्वर को दी गई है । 'दृश' का अर्थ "प्रेक्षण" 'अच्छे देखने के स्थान में 'जानना' मात्र तीन काल में नहीं हो सकता" ऐसा होने से 'दर्शन' वा 'देखना' क्रिया एवं नेत्रादि देखने के करणों का प्रयोग लोक एवं वेद में व्यर्थ हो जावेगा । स्वयं वादी जीव भी तो द्रष्टा का अर्थ देखने वाला ही मानते हैं और इसी कारण इस द्रष्टत्व से सब जीवों को आत्मादृश दृष्टि विहीन सिद्ध करना चाहते हैं । परन्तु यह अनार्य मत नितान्त भ्रम मूलक

और वैदिक सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध केवल विशिष्टाद्वैत का अनुत एवं सर्वतः हेय अपितु दूरतः त्याज्य है ।

ऐसा ग्रहण करने पर परमात्मा का प्रकाश स्वरूपत्व केवल अन्ध विश्वास और सर्वथा अनुपयोगी (व्यर्थ) हो जावेगा । अन्धे जीवात्मा प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के तृतीय धाम में जाकर ही क्या करेंगे । लोक में तो अन्धे कभी प्रकाश देखने नहीं जाते । उन्हें सूर्य से कुछ नहीं दीखता, चाहे वह चमके चाहे काला रहे उन्हें क्या लाभ । अब तो जगत में कुछ प्राकृत चक्षु वाले हैं भी उनके द्वारा लाभ उठा सकते हैं । परन्तु जब सब आत्मा अन्धे हुए तो परमात्मा के प्रकाश से किसी विधि भी किसी आत्मा को कोई सुविधा नहीं हो सकता । मास्तु ।

यहाँ पर भ्रम के पोषणार्थ एक ऋचा प्रविष्टा की जाती है, यथा "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋ० १। १६४। २०) इससे जीव का अन्धत्व और केवल ब्रह्म का साक्षित्व दर्शाया गया है सो अयुक्त केवल और प्रमाणाभास है क्योंकि यह मन्त्र द्रष्टत्व निर्णायक नहीं है । प्रत्युत भोक्तृत्व विवेचनात्मक है अर्थात् यह दिखाया गया है कि जीवात्मा सब कर्म फलों का भोक्ता है, ब्रह्म विपरीत इसके उस 'जीव' को न्याय से कर्म फल देता है । "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति,, वाक्य से स्पष्ट प्रकट है तो कि ("एकोअश्नन्नभिचाकशीति, न्योऽनश्नन्नभि-

चाकशीति„ एक देखता हुआ खाता वा खाता हुआ देखता है, दूसरा न खाता हुआ देखता है ।

वेद में बुद्धि, युक्ति, प्रत्यक्षादि प्रमाणों, प्राकृत नियमों तथा परस्पर विरुद्ध व्याघातात्मिक उपदेश, वा कोई ज्ञानाभास (अज्ञाना अविद्या) नहीं है । जो कुछ है वह सब ज्ञानात्मिक विद्या पूर्ण युक्ति. बुद्धि पूर्वक, सर्वथा सर्वतः प्रामाणिक सकल दोष रहित ही है इससे भिन्न वा विरुद्ध कुछ नहीं ।

दर्शन का अर्थ ज्ञान मात्र वा द्रष्टा का अर्थ बोद्धा वा ज्ञाता ही होता तो उपर्युक्त प्रमाण संख्या ४२ "एष ही द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मनता बोद्धा·····" में जीवात्मा को "द्रष्टा,, और "बोद्धा„ दोनों न कहा जाता । केवल 'द्रष्टा, पर्याप्त होता । इसी का अर्थ बोद्धा=जानने वाला होजाता । दोनों पद यहाँ ऋषि ने इसी कारण उपदिष्ट किये हैं कि 'द्रष्टा' का अर्थ, देखने हारा' करना था और 'बोद्धा' का 'जानने हारा' इसी प्रकार अन्य मुनि भी जीवात्मा को 'द्रष्टा= देखने वाला अर्थात् स्वयं दर्शन शक्ति युत मानते हैं यथा "द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्,,(सां०२।२६) अर्थात् देखना, सुनना, सूंघना. चखना आदि सब क्रियाओं का कर्त्ता आत्मा ही है, इन्द्रियादि सबजीव के करण मात्र हैं । यहाँ स्पष्ट "द्रष्टा" पद जीव के लिये आया है । इन्द्रियों का सम्बन्ध वा करणों की आवश्यकता ब्रह्म को तीन काल के पीछे भी न होगी ।

ऊपर लिखे हुए प्रमाणों सं० १६ और २२ में पद "त्मना" "आत्मना" क्रम से आए हैं । उनसे जीवात्मा का अकरण (बिना साधन के) कर्त्ता, और स्वयं अपनी सर्व क्रियाओं के लिये शक्तिमान् होना प्रत्यक्ष है । इसमें कभी किसी धीमान को कोई सन्देह नहीं हो सकता । (६२)

(अकरणकर्तृत्व)

जीवात्मा सुषुप्ति. समाधि और मोक्ष, तीनों अवस्थाओं में सब शारीरिक वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं (कारों) को तज कर प्राकृत शरीरों से असम्बद्ध वा अलग हो अपने से व्याप्त वा स्वस्वरूप व्यापक एवं अत्यन्त निकट (आत्म) स्थ परमात्मानन्द का साक्षात् बिना करणों के अनुभव करता है । यों समझिये जागृतावस्था में जीव स्थूल (मोटे) कार्यों को स्थूल हस्त पाद (हाथ पांव) आंख कान आदि गोलकों सहित कार करता है ; सुख दुःख के दर्शन (देखकर निश्चित ज्ञान) के लिये 'मन' मात्र का प्रयोग करता है क्योंकि जैसे 'सुखादि' सूक्ष्म हैं वैसा ही 'मन, भी है । सत्यासत्य, धर्माधर्म आदि का जो सुखादि से भी सूक्ष्मतर हैं, निर्णयात्मिक ज्ञान 'मन, से सूक्ष्मतरा सात्विकी अन्तःकरण बुद्धि से किया जाता है ।

स्वाप वा स्वप्न में सामान्यतया तीनों अन्तःकरणों (मन अहङ्कार और चित्त) से कार करता है चित्त से चिन्तन स्मरण अहङ्कार से अभिमान और मन से कर्म भोग आदि करता है परन्तु बुद्धि पदार्थ से कोई विवेचन (निर्णय) स्वप्न में प्राय

नहीं होता, नहीं सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) में कोई निर्णय बुद्धि से होता है। यदि गहरी नींद में न्यायान्याय आदि का निर्णय करना बुद्धि करण से मानें तो उस अवस्था का नाम सुषुप्ति नहीं हो सकता, उसे स्वप्न कहना पड़ेगा। क्योंकि बिना जगत् के पदार्थों का मन् चित्त, अहङ्कार से दर्शनादि किये कोई निर्णय नहीं हो सकता। जब जगत् के पदार्थ समक्ष रहे तो स्वप्न रहा सुषुप्ति नहीं। अतएव सिद्ध हुआ कि सब ही करण सुषुप्ति में क्रिया हीन होते हैं। प्राण के अतिरिक्त किसी सूक्ष्म अङ्गसे भी कोई क्रिया नहीं की जाती। तथापि जागकर जीवात्मा (प्रायः रुग्ण शरीर वाला) कहता है कि मैं अति आनन्द से सोया, नींद में बड़ा आनन्द आया वा आज खूब (कूब) सोया' इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वह आनन्द साक्षात् बिना करण आत्मा ने अपने अन्तर्यामी आनन्द स्वरूप ओ३म् से अज्ञान पूर्वक पाया, (इस विषय का विशेष निर्णय हमारी लिखी विश्व व्यापक वैदिक नियम नामक पुस्तक में मिलेगा)* पुनः जब

*"सुषुप्ति (गाढ़) निद्रा में जीवों को अचेत समझते हैं उन्हें विचारना चाहिये कि यदि चेतन होता, तो पुकारने (बुलाने) को सुन कर न उठता शरीर आदि छूने, उसके समीप किसी भांति का शब्द आदि करने को जानकर न जागता आंख खोलकर न देखने लगता श्वांस परिश्वांस नियम से न चलते। स्पष्टतया श्वास लेता, छोड़ता है। इन सब बातों से सिद्ध है कि जीव केवल स्थूल सूक्ष्म देहों की क्रियायें सुषुप्ति में प्रायः रोक देता है उनका ज्ञान नहीं त्यागता अर्थात् रखता है और सचेत रहता है॥

समाधि योग में प्राणों को भी गति (हलचल) रोक स्थूल सूक्ष्म शरीरों की बाह्याभ्यन्तर चेष्टा को स्थगित (थाम कर वा सर्वतः सर्वथा सामयिक त्याग कर। आत्म एवं परमात्मस्थ होता है और दोनों शरीरों को मृतक (शव) वत् कर देता है। तब ज्ञान पूर्वक ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, योग में कहा है "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" तदाद्रष्टुःस्वरूपे अवस्थानम्" (१।३।५) अर्थात् उपर्युक्त पूर्ण निश्चेष्टा का नाम योग है और इस योग में द्रष्टाजीव अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है और प्राकृत साधनों से असम्बद्ध वद्ध वा अलगसा [९३]

वेद में यत्युक्ति है यथा:--"उन्मदिता मौने-
येन वातां आताऽस्थिमावयम् शरीरेदस्माकं
यूयं मर्तासो अभिपश्यथः (ऋ० १० । १३६ । ३)

भाष्यः—योगाभ्यास से अत्यन्त प्रेम एवं आनन्द में मग्न होकर हम सर्वथा वाताश्रित हो रहे हैं हमारे ये शरीर तुम सर्वथा शवोपम देखते हो॥ (ऋ० १०।१३६।३)

भावः—ईश्वर उपदेश है "हे अमृत पुत्र जीवो! तुम योग करते समय इस शरीर को मृतक सा निष्क्रिया करदो, और स्वयं परमाश्रित होकर ओ३म् वाच्य स्वरूप का आत्मदर्शन शक्ति से दर्शन करो (ऋ० १०।१३६।३)

प्रख्यानम्-जैसे सुषुप्ति और समाधि में करण रहते हुए जीव

अकरण आत्म कर्म करते हैं। ऐसे ही प्रत्युत इससे उत्तमतया मोक्ष में जब कि जीवात्मा सब कारण, सूक्ष्म और स्थूल देहों से पृथक् वा मुक्त हो, प्रकृति के स्थिति स्थान से सर्वतः सर्वथा अलग एवं परे (दूर) हो जाता है· कुतः स्थूल शरीर तो अभी जगत्काल में बारंबार छूटता है। रहा सूक्ष्म तनु वह प्रलय कालमें कारण में लीन अर्थात् मिल जाता है (बिगड़कर परमाणुओं के रूप में रह जाता है) केवल कारण देह नाम एक परमाणु, एक आत्मा के संग सम्बद्ध रह जाता है जो कि महारात्रि में उसकी महत्तमा सुषुप्ति का कारण वा साधन होता है। मुक्ति अवस्था में कारण शरीर से भी मुक्त हो जाता है। इस लिये मोक्ष में निरन्तर जाग्रताअवस्था रहती है। वहाँ बन्धन रूप न कोई शरीर रहता है। न किञ्चिदपि अवरोध वा रुकावट। उस निरन्तर जागृति की अवस्था एवं प्रकाश स्वरूप तृतीय मोक्ष धाम में इस सर्वथा सुषुप्ति के कारण, ज्ञान एवं आत्म परमात्म प्रकाश के आवरक (ढकन) जड़ स्वरूप कारण देह का क्या कार्य।

भाव यह है कि ये तीनों देह यहीं रह जाते हैं (देखो—मन्त्र संख्या २६) और जीव निरन्तर प्रकाश स्वरूप मोक्षधाम नामक ब्रह्म मात्र में प्रवेश करता है; वहाँ यह निरन्तर एक रस जागृत रहता हैं। यावन्मोक्ष सर्वथा स्वतन्त्र अकरण कर्त्ता और साक्षात् ओ३म् पदार्थ के दर्शन एवं सहवास से यथा रुचि विचरता हुआ (प्रमाण २८ देखो, मुक्ति के आनन्द का अनुभव करता

रहता है। वह आनन्द सुषुप्ति वा समाधि के आनन्द से असंख्य गुणा विशेष होता है। (ऋ० १०। १३६। ३) [६४]

४६—निम्नस्थ प्रमाण भी उपर्युक्त विषयके पोषक हैं:—"गताकलाः पञ्चदशः प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञान मयश्चात्मा परे अव्यये सर्वमेकी भवन्ति" ॥ (मुण्डक ३। २। ७) स्थूल सूक्ष्म देह रूपी १५ कला वाले कारावास गृह से जीव पृथक हो गया। सब कार्य रूपी दिव्य अङ्ग अपने २ कारणों में मिल गए और फिर ज्ञान क्रिया शील आत्मा सहित सब परमात्मा में एकत्रित हो जाते हैं ॥

५०...अन्यच्च: "कस्यनूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्यनाम कोनो महिया अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरञ्च ॥ (ऋ० १।२४।१)

भाषार्थः—वह अत्यन्त सुन्दर प्रकाश स्वरूप मोक्षानन्द प्रद कौन प्रसिद्ध है जिसको मुक्त जीव पूर्ण निश्चय से अर्थात् साक्षात् दर्शन करते हुए जानते वा उपासते हैं। और कौन पिता और मातादि के दर्शनार्थ हमको बहुत सी प्रकृत से फिर मिलाता है।

पूर्वोक्त उपनिषद्वचन से १५ कलाओं अर्थात् दशों प्राण १ बुद्धि, २ मन, ३ दशों ज्ञान कर्मेन्द्रियां, ४ आकाशादि, ५ स्थूल भूत, ६ स्थूल शरीर (क्रिया एवं भोगाश्रय) १० ज्ञानादि का

साधन सूक्ष्म शरीर ११ ज्ञान १२ वीर्य १३ अन्न १४ नाम १५ अर्थात् दोनों स्थूल सूक्ष्म देहों का अभाव होना सिद्ध है। और उत्तर वेद वचन से सर्वथा स्पष्ट निश्चय हो जाता है कि जीव मुक्ति से लौट कर आते हैं। और लौटने पर अदिति नाम अखण्डा प्रकृति से फिर सम्बद्ध होते हैं। यह प्रकृति का पुनः संयोग अर्थापत्ति प्रमाण से मुक्ति में प्रकृति से असंदिग्ध वियोग सिद्ध करता है [ऋ० १।२४ १]

उपर्युक्त तीनों देहों से अलग हो जाने पर मुक्तावस्था में जीवों की स्वाभाविक २४ शक्तियां आनन्दानुभव एवं स्वेच्छा पूर्वक विचरना आदि अनेकानेक वेद प्रमाणों से धूप सम प्रकाशित हैं (५१-५३) वेदानुकूल आर्य वचन भी देखिये "अभावं बादरिराह ह्येवम्" "भावं जैमिनि विकल्पमननात्" "द्वादशाह वदुभयविधं बादरायणोत" (वेदान्त ४।४।१०-१२)।

इन तीनों सूत्रों का यही आशय है कि मुक्ति में तीनों प्राकृत शरीर नहीं रहते, जीव केवल निज शुद्ध शक्तियों सहित रहते हैं।

सारः—नित्य वस्तु (द्रव्य) का नित्य गुण उससे कदापि अलग नहीं हो सकता।

५४—अन्यच्च "सनो[१२] बन्धुर्जनिता[३] सविधाता[४] धामानि[५] वेद[८] भुवनानि[९] विश्वा[७]। यत्र[६] देवा[१०] अमृत[१२] मानशानास्तृतीये[११] धामन्नध्यैरयन्त[१३] ॥ (य० ३२।१०)[१४]

भाषार्थः—वह ओ३म् हम सब जीवों का भ्राता माता पिता कामना पूर्त्ति एवं कर्म फल प्रदान करता हुआ धारण करने वाला, सर्व लोकों और धारणीया योनियों का ज्ञाता है जिस कार्य कारण रूपी दो धामों से परे तीसरे ज्योति स्वरूप धाम में (देखो म० ३६) अथवा प्रकृति (कारण कार्य रूप) के स्वरूप परिणाम विकारों (१) और जीवों के (मुक्ति बन्धन आदि रूपी) अवस्था परिणामों (२) से तरे हुए नित्य एक रस मुक्त तथा सर्वथा एक समान जागरूक स्वभाव एवं मुक्ति स्वरूपधारी ओ३म् में मुक्त जीव मोक्षानन्द को साक्षात् और सर्वतः स्वतन्त्र अर्थात् अपने नित्य स्वाभाविक ज्ञान और प्रयत्न से ब्रह्म सहवास में ब्रह्म स्वरूप के दर्शन से परमानन्द का अनुभव करते हुए स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं। क्या अब भी समाधि आदि में जीवों के अकरण साक्षात् कर्त्ता होने में सन्देह रह सकता है। कदापि नहीं। सर्वथा सन्देहातीत सिद्ध हो गया कि सुषुप्ति, समाधि और मोक्ष इन तीनों अवस्थाओं में जीवात्मा अकरण (बिना इन्द्रियादि साधनों के) कर्त्ता है। अपितु जागृति में भी बिना अन्तःकरणों के अकरण क्रियावान् (कर्म करने वाला) ऊपर बारंबार दिखा चुके हैं। केवल प्राकृत वा प्रकृति सम्बन्धी कर्म करने में साधन अपेक्षित होते हैं और वहां भी जैसा दिखा चुके हैं यथा योग्य अपेक्षा होती है। अर्थात् साकार स्थूल भोगों के लिये स्थूल हाथ पाँव आदि की, सूक्ष्म सुखादि के अर्थ सूक्ष्म मनादि की, फिर अत्यन्त सूक्ष्म अप्राकृत अर्थात् जीवात्मा से परे

परम अणु (अत्यन्त सूक्ष्म, पतले, फाइन, लतीफ) निराकार ब्रह्म के दर्शन आदि के लिये आत्म दर्शनादि शक्ति के अतिरिक्त कौन सा करण पदार्थ प्रयोज्य हो सकता है अर्थात् कोई नहीं ।

प्रमाण संख्या छह (६) में निराकार जीवात्मा से परमात्मा अति सूक्ष्मतम दिखाया जा (५५) चुका है । यह बात "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धिरात्मा महान्परः ॥ महतः परम व्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ (कठ० ३।१०।११).

अर्थात् इन्द्रियों से शब्दादि तन्मात्रायें सूक्ष्मतर, शब्दादि से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से प्रकृति, प्रकृति से सूक्ष्मतर अर्थात् छोटा जीवात्मा है और ब्रह्म उस से भी पतला है । वह जीवात्मा छोटाई की सीम है और ब्रह्म पतलेपन की अर्थात् न जीव से कुछ छोटा और न ब्रह्म से कोई विशेष पतला है ।

इस से अत्यन्त विस्पष्टया प्रत्यक्ष हो गया कि आत्मा से भी पतले पदार्थ परमात्मा को आत्म शक्ति से ही देख सकते हैं । ऋषि मुनियों ने इसी कारण परमात्मा का करणग्राह्य कहा है ।

५५—यथा "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । (मुण्डक० ३।१।८)

अर्थात् ज्ञान कर्म इन्द्रियाँ, अन्तःकरणों एवं अन्य शारीरिक मानसिकादि कर्मों से ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती । केवल

आत्म शक्ति से ही साक्षात् ईश्वर दर्शन हो सकता है, इसीलिये प्रमाण सं० ६६ में "एजति···त्मना" और सं० २२ में "आत्मनाऽऽत्मानमभि संविवेशः" पद आये हैं । जिनका आशय आत्मशक्ति से साक्षात् परमात्मदर्शनादि करना है ।

५६—गीता में "उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्" (६।५) इस में भी साक्षात् आत्मा से ही आत्मोन्नति करनी कही है ।

"जीव्" प्राणधारणे वा नियमने, विबोधे प्रबोधेवा, अच् से जीव पद सिद्ध होता है । जो जीवे, प्राणों को नियम में चलावे बाहर के एवं ज्ञानवान् विवेकी, मुमुक्षु और मुक्त हो वह जीव है ।

"अत्" 'सातत्यगमने, प्राप्तौ चेति, मनिन् से आत्मा पद सिद्ध है । जो निरन्तर गमन वा चलने के स्वभाव वाला एवं प्राप्त वा व्याप्त करने का शील रखता हो वह जीवात्मा ।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति से भी जीवात्मा स्वभावतः ज्ञान क्रियावान् सिद्ध है । फिर मुक्ति अवस्था में सर्वतः सर्वथा अचल और अद्रष्टा कैसे माना जावे ।

जब बिना करणों के चल नहीं सकता तो मुक्ति का अर्थ छुटकारा के स्थान में घोरतम बन्धन होगा । इस विषय में विचार विशेष ऊपर कर चुके हैं । और जब करणों के बिना देख न सकेंगे, तो अन्धे जीवों के लिये प्रकाश स्वरूप मोक्षधाम निरर्थक ठहरेगा । और अत्यन्त आवश्यक गमन और दर्शन बल

हीन होंगे तो और ही कौन सी शक्तियां होंगी अर्थात् कोई भी न होगी, जो युक्ति इनके न होने में योग देगी वह ही अन्योंं के नष्ट करने में साधन बनेगी ।

और यदि और सूंघने, चखने आदि की शक्तियां रहें भी तो वहां व्यर्थ होंगी । मोक्ष पदार्थोचित तो चलन और दर्शन एवं अनुभवन शक्ति ही हैं ।

जब जीव में आवश्यकाय वा अनावश्यकीय कोई शक्ति ही नहीं होगी तब चेतन से जड़ ही हो जावेगा, एवं भूते सति (ऐसा होने से) जीव का तो सर्वनाश ही हो जावेगा । ऐसे मोक्ष पदार्थ को कोई कोरा पागाल, आत्मघाती ही चाहता होगा । यह मत जड़ ब्रह्म बनने वालों से मिलता है जिसका निराकरण "विश्व व्यापक वैदिक नियम, नामक पुस्तक की भूमिका में कर चुके हैं (वहां देखें).

ब्रह्म

अब क्रमागत ब्रह्म पदार्थ के गुण, कर्मों, स्वभाव आदि का आवश्यक वर्णन करते हैं:—

'ब्रह्म, यह पद वृह, (वृद्धौ, प्ररोहे, गर्जने, पोषणे. भाषणे दीप्ता चेति) बढ़ना, बढ़ाना, उगना, उगाना, गरजना (अतीव ऊंचा शब्द करना) गर्जाना, पालना, पुष्ट करना, भाषण करना, चमकना, चमकाना आदि) में मनिन् प्रत्यय लग कर प्राप्त होता है, इस ब्रह्म पद के परस्पर विभिन्न अनेक वाच्यार्थ हैं ।

इसका मुख्य (शक्य) अर्थ सब से (सर्व गुण कर्म स्वभावों एवं स्वरूप में) महत्तम परमात्मा' सब को बढ़ने के साधन देने एवं बढ़ाने, उद्भिजों का उगाने, स्वयं गरजने, औरों को गरजने की शक्ति वा साधन देने, सबका पालने, पुष्ट करने, बोलने, बोलने की शक्ति वा साधन देने, स्वयं प्रकाश स्वरूप औरों को प्रकाश के साधनों से सम्पन्न करने; हारा जगदीश्वर है । (१००) और गौण अर्थ (धन, धान्य) ब्रह्माण्ड, सामान्य ज्ञान, स्तोत्र, वेद मन्त्र, प्रकृति, वेद, जल, अथर्ववेद काल, आदि हैं । जो निम्नस्थ पते के वेद मन्त्रों से सिद्ध हैं । (यजु० २०।८८ "ब्रह्माणि = अन्नादि धनानि वा अथ० २०,१२,३; ३५, १; ३७,६, ७३,१; ८४.२;३;) वेद ज्ञान (अथ० ८,४,६; २०,३५,१६; ३८,२; ४७,८; यजु० ३४।५७) ब्रह्माण्ड (अथ० २०,६१,७; ऋ० २,२३,१६;) जीव वेदज्ञानी (अथ० २०,१२८,६;७; ऋ० ७, २६,२;) विद्वान् वैद्य (अथ० २०,६६,११;१२;) वेद (ऋ० १,४०,१; अथ० १६,४२,१;) जल (अथ० १३,१.४६;) अथर्ववेद (अथ० १५,६, ६) सामान्य ज्ञान (अथ० ७,५६,४; ८,६,१५;) स्तोत्र (अथ० ५,२,८; २०,१०७,११;) काल (अथ० १६, ५३, ६;) प्रकृति (अथ० ६,६,१;) [५६, (१–३६)]

८४—उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'ब्रह्म' के ब्राह्मण वेदोपदेशक, ब्रह्मचारी आदि अनेनेक वाच्य हैं विस्तार भय से इतने अर्थ उदाहरणार्थ पर्याप्त समझे गये हैं । (विषय १०१)

एक 'ब्रह्म' पद के अनेक वाच्य होने के कारण भोले पुरुष

भ्रम में फँस जाते हैं और अविवेकवश सब कार्य कारण, जड़ चेतन, अल्पज्ञ सर्वज्ञ, स्वस्वामी, भोक्ता भोग्य, आधारा ध्येय, कर्त्ता कर्म, आदि आदि को अन्धमुख (अन्धाधुन्ध) एक मानने लगते हैं। पारस्परिक सर्वथा विरोध को बुद्धि के समक्ष नहीं होने देते।

८५—'ब्रह्मणस्पतिः' यह पद वेदों में स्यात् शत वा अधिक बार (अथ० ११,६,४: आदि स्थानों में) आया होगा। 'ब्रह्मणः, 'पतिः, इन दो पदों से मुक्त है। 'ब्रह्म, नाम परमेश्वर मानें तो उसका रक्षक उससे महान् (ब्रह्म) तर वा बलिष्ठतर मानना पड़ेगा और फिर ब्रह्म सर्वोपरि एवं अद्वैत (अद्वितीय) न रहेगा। जो इसका रक्षक होगा वह अवश्यः बलिष्ठतर और उस से विशेष बड़ा मानना होगा। जिसको विद्वान् एवं बुद्धिमान नहीं सह सकते।

८६—"ब्रह्म आमर" पद (ऋ० ६।१६।३६) में आया है जिसका अर्थ 'सब ओर से वा सब प्रकार ब्रह्म को धारण वा पोषणकर है' और ब्रह्म का अर्थ स्वामी दयानन्द जी धन वा धान्य करते हैं। यदि ईश्वर अर्थ भी करें तो उसका भर्त्ता वा पोषक कौन होगा। कुछ हो द्वैत तो हो ही जावेगा, और ब्रह्म से महत्तर के सङ्ग द्वैत सिद्ध होगा। जो अद्वैत वादी न सहेंगे अपितु जगत् की विद्या और वैचक्षण्य मात्र इस बात को न सहेगा।

८७—"ब्रह्म क्रियमाणाजुषस्व" (ऋ० ५।२६।१५) अर्थात्

पुरुषार्थ से सिद्ध हुए धन और धान्यादि का सेवन (भोग) कर, (ऋषि दयानन्द भाष्य). यहां यदि ब्रह्म का अर्थ ईश्वर करें तो बनाये (सिद्ध किये) जाते हुए ईश्वर का भोग कैसा। और फिर भोक्ता द्वितीय स्पष्ट सिद्ध है। यदि दुर्जन तोष न्याय से 'ब्रह्म' का अर्थ ईश्वर और 'क्रियमाण का अर्थ 'प्रत्यक्ष किया हुआ' भी करें तो भी इस मन्त्र के पद 'इन्द्र जुषस्व' 'ते' आदि द्वैत को धूप में दिखा रहे हैं और शेष वाक्यार्थों से उक्तार्थ की सङ्गति भी नहीं बनती।

८ "कालो ब्रह्म भूत्वा विभर्ति परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १९,५३,९) अर्थात् काल, ब्रह्म (बढ़ता हुआ अन्न) होकर सर्वोच्चस्थ पुरुष का पालन करता है; यहां काल और ब्रह्म दो भिन्न पदार्थ हैं, काल पहले से ब्रह्म होता तो 'भूत्वा, का प्रयोग न होता, ब्रह्म को यदि विशेषण भी मान लें ता भी 'प्रतिष्ठितं, और 'बिभर्ति, क्रियायें और 'परमेष्ठिनम्, पद काल से भिन्न सत्ता रूपी द्वैत के साधक हैं हो क्योंकि प्रतिष्ठित का सम्बन्ध जगत् से है। यदि 'परमेष्ठिनम्' पद का वाच्य ब्रह्म मानें और जगत् के स्थान में 'जातं, आदि क्रियायें उससे सम्बद्धा करें तो काल ब्रह्म का प्रेरक, उत्पादक, आधार और भर्त्ता मानना होगा, यह विद्या और बुद्धि विरुद्ध पड़ेगा।

५—'काले ब्रह्म समाहितम्' (अथ० १९।५३।८) अर्थात् काल में वेद ज्ञान स्थापित है अर्थात् समय में वेद ज्ञान संगृहीत किया जाता वा वेद पढ़ने में समय लगता है कहते हैं

नहां आ जाता। यहां भी काल और ब्रह्म दो वस्तु आधाराधेय रूप हैं। न काल ब्रह्म है, नहीं ब्रह्म काल हो सकता है।

उपर्युक्त ५ उदाहरणों और पूर्व २८ प्रमाणों से यह बात सर्वथा प्रत्यक्ष हो गई कि एक ब्रह्म पद के अनेक अर्थ होते हैं और वे (अर्थ) अनेक भिन्न एवं परस्पर विरुद्ध वा विपरीता व्यक्तियों वा सत्ताओं के वाचक होते हैं। न अखण्ड ब्रह्म अनेक भाँति का होता है और न निर्विकार निराकार निरवयव ब्रह्म के वे सब अङ्ग कहे जा सकते हैं। ऊपर दिये पते के मन्त्रों तथा अन्यत्र भी वेद में ब्रह्म पद बहु बचनान्त आता है जिसके अर्थ कहीं बहुत बिभिन्न धन, कहीं नाना अन्न, कहीं भाँति २ के स्तोत्र और ऐसे अनेकशः वेद वचन वा मन्त्र हैं। यदि सर्वत्र ब्रह्म ही अर्थ करें तो बहुत से 'ब्रह्म, हों जो जगत् के किसी बुद्धिमान को इष्ट नहीं है। अतएव यह ही मानना पड़ता है कि एक नाम के बहुत से पदार्थ हैं।

जैसे प्राणी पद का वाच्य, मनुष्य (जो अनेक वर्णों में विभक्त; अपने अपने गुण कर्मों से नाना रूपों का होता है) पशु (जिसके बहुतेरे भेद और जातियां हैं), और वृक्षादि सब ही हैं, परं सब एक नहीं, और न एक वस्तु के भाग ही हैं। प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न जीव हैं, असमान और भिन्न भिन्न कर्म करने से विविध योनियें और शरीर पाते हैं; तथापि सब प्राण वाले होने से प्राणी कहाते हैं। जब सब शरीर (शिर बाहु उदर और जङ्घादि का समुदाय) एक (शरीर) नाम रखते

हुए एक नहीं कहाते, तो सब शरीरी (चेतन आत्मा) एक कैसे कहे जा सकते हैं; पुनः जब सब जड़ वस्तुयें कार्य और कारण रूप से पृथक् पृथक् रहते हैं; और सब निराकार निर्विकार चेतन जीवात्मा भी सदा अलग अलग रहते हैं; तो फिर सब जड़ों और चेतनों के मिल कर एक होने की कथा काले सूर्यवत् मिथ्या क्यों नहीं, अस्तु।

ब्रह्मपद वाच्य जगदीश्वर पदार्थ का मुख्य नाम (वाचक पद) ओ३म् है। यह पद 'अव, धातु के 'व, को संप्रसारण होने से बनता है। 'अव' के अर्थः—गति, रक्षण, कान्ति, प्रीति, तृप्ति अवगम्, प्रवेश, श्रवण, स्वम्यार्थ, याचन, सामर्थ्य, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग, वृद्धि, कृपा, उन्नति उत्साह, दाह, भाव, भक्षण, स्वीकार, पालन, पोषण अर्थात् (ज्ञान गमन व्याप्ति, रक्षा, (शोभा+यश, प्रेम, संतोष+हर्ष (बोध अवतरण) (प्रत्यक्ष होना+आरम्भ करना+परिचय+अन्तर करना वा अन्तर ग्रहण) सुनना सुनाना आदि, स्वामी का कार्य करना शक्ति शाली होना वा करना, याचना, क्रिया, इच्छा प्रकाश, प्राप्ति, सर्वतः चिपटना, सताना हानि करना, देना (बांटना) बढ़ना बढ़ाना कृपा करना, उन्नति करना, उत्साह युत होना एवं करना, जलाना, होना, खाना, मानना, पालना, पुष्ट करना, हैं।

जिनसे नीचे लिखे गुण कर्म स्वभाव और स्वरूप आदि द्योतक नाम जगदीश्वर के सिद्ध होते हैं यथा "सर्व व्यापक (१) व्यापनं शक्ति दाता (२) सर्वाधार (३) सर्वत्रपरिपूर्ण (३) सर्वशक्ति मान्

(४) सर्वथा स्वतन्त्र (५) सर्व व्याप्त (६) ओत (७) प्रोत (८) विभू (९) अत्यन्त महान् (१०) अत्यन्त सूक्ष्म (पतला) (११) सर्वजेता (१२) अजेय (नजीतने योग्य) (१३) अभय (१४) अनादि (१५) अनन्त, (१६) विद्या शिक्षा प्रेरणा एवं नाना अन्य पदार्थों द्वारा सर्व रक्षक (१७) स्वयं नित्य सर्वथा स्वरक्षित (१८) चेतन (१९) स्वाभाविक ज्ञान क्रिया युत (२०+२१) सर्वज्ञ (२२) नित्य अविद्या रहित (२२½) सर्व ज्ञापक (ज्ञान दाता) (२३) सर्वान्तर्यामी (२४) ज्ञान साधन दाता (२५) आदि गुरु (२६) सर्वोत्तम वेद अध्यापक (२७) सर्व चालक (२८) अचल (कूटस्थ) (२९) गमन सहायक (३०) सौन्दर्य स्वरूप (३१) अनुपम (३२) शोभा दाता (३३) यशस्वी (३४) यश दाता (३५) कामना निवारक (३६) आप्तकाम (कामना हीन) (३७) अकाम निष्काम (३८) प्रेम स्वरूप (३९) प्रेम शिक्षक (४०) मैत्री स्वरूप (४१) जगन्मित्र (४२ अत्यन्त हर्ष युक्त (४३) हर्षदाता (४४) सच्चिदानन्द (४५) मङ्गलमय (४१½) बुद्ध (४६) सर्व अवबोधक एवं प्रबोधक (४७) नित्य जागृत (४८) सर्वथा सर्वदा नितान्त निर्भ्रान्त (४९) मर्मज्ञ (५०) अत्यन्त तीक्ष्ण मति (५१) विवेक स्वरूप (५२) विवेचन शक्ति दाता (५२½) तीव्र मति करने हारा (५३) अनवतारी (न उतरने वाला) (५४) अवतारक (उतारने वाला) (५५) सर्व प्रवेशक (५६) सर्व चेतन प्रत्यक्ष (५७) सर्व समदर्शी (५८) सर्व दर्शक

(५९) दर्शनीय (६०) सर्व द्रश्य (६१) सर्व द्रष्टा (६२) सर्व कार्य आदि प्रारम्भक (६३) स्वपरिचायक (६४) सर्व परिचय योग्य (६५) परिचायक (६६) श्रोत्र स्वरूप (६७) सर्व श्रोता (६८) श्रावक (सुनाने हारा) (६९) श्रवण शक्ति एवं साधन दाता (७०) सर्व स्वामी (सर्वेश्वर) (७१) सर्वाध्यक्ष (७२) सर्व नियामक (७३) यम (७४) सर्व स्वदाता (७५) सर्व सामर्थ्य प्रद (७६) सामर्थ्य स्वरूप (७७) अजर (७८) प्रार्थनीय (७९) सर्वयाच्य (८०) याचना पूरक (८१) सर्वथा अयाचक (८२) अनायास क्रीड़ा रूप जगत्कर्ता (८३) धर्ता (८४) भर्त्ता (८५) संहर्त्ता (८६) नित्य एक रस सर्व कार्य कर्ता (८७) सर्व इष्ट पूरक (८८) परमेष्ट (८९) सत्यकाम (९०) प्रकाश स्वरूप (९१) स्वयं प्रकाश (स्वतः प्रत्यक्ष) (९२) सर्व प्रकाशक (९३) प्रतापी (९४) प्रताप प्रद (९५) सर्व प्राप्य (९६) सर्व प्रापक (९७) सर्व परिवेष्टा (९८) परिवेशक (९९) अहिंस्थ (१००) अहिंसक (१०१ अहिंसोपदेशक (१०२) दुष्ट घातक (१०३) पाप एवं पापी नाशक (रूद्र) (१०४) सर्व मारक (१०५) ताड़क (१०६) अमर (१०७) सर्व अपमानक (१०८) अनपमान्य (१०९) विद्या-शिक्षा-लोक सुख-मोक्षानन्द प्रद (११०, १११, ११२) कर्म फल कर्म फल रूप यथा योग्य ऐश्वर्य विभाजक (बांटने हारा इन्द्र) (११३) निष्पक्ष न्यायी (११४) कर्माध्यक्ष (११५) विविध धन धान्य मनुष्य पशु विद्याबल आदि से पुरुषार्थी की वृद्धि

कर्त्ता (११६) सर्व वृद्धि साधन दाता (११७) नित्य सर्वतः अत्यन्त वृद्ध (पूर्ण ब्रह्म) (११८) दयालु (११९) अत्यन्त उन्नत (१२०) सर्व उन्नयता (१२१) सर्वोत्तर (१२२) सर्व उत्तारक (१२३) मुक्ति दाता (१२४) उत्साह स्वरूप (१२५) सर्वोत्साहक (१२६) आपत्ति-कष्ट-दुःखादि-दाता (१२७) दुष्ट दाहक (१२८) स्वयम्भू (१२९) सर्वभावयिता (१३०) अनुभव शक्ति दाता (१३१) सर्व भक्षक (ग्राहक) (१३२) भक्षण शक्ति एवं साधन दाता (१३३) महेन्द्र ($१\frac{३}{३}$) सर्व पालक ($१\frac{३}{३}$) सर्व पोषक ($१\frac{३}{३}$) सत्यादि स्वीकर्त्ता ($१\frac{३}{३}$) असत्य अधर्म आदि अस्वी कर्त्ता ($१\frac{३}{३}$) जगदीश्वर (१३४)"

उपर्युक्त ओ३म् अक्षरार्थों के अतिरिक्त और भी ईश्वर स्तुति परक पद हैं यथाः—निराकार (१३५) निर्विकार (१३६) अजन्मा (१३७) अखण्ड ($१\frac{३}{३}$) अत्यन्त पवित्र (१३८) सर्व पावक (१३९) अत्यन्त बली (१४०) निष्पाप (१४१) वीर्य स्वरूप (१४२) वीर्य दाता (१४३) वेदवक्ता (१४४) सर्व शासक अशास्य (१४५) सर्व प्रेरक (१४६) अनुत्तर (१४७) अप्रतिमा स्वरूप सम. वा स्वरूप नापने के साधन हीन (१४८) सर्व भाषा भाषी (१४९) मेधा स्वरूप (१५०) अपरिणामी (१५१) नित्य एक रस-गुण-कर्म-स्वभाव-स्वरूप-युत (१५२) पथदर्शक (१५३) अन्यून दोष वा त्रुटि रहित (१५४) मृत्यु भयनाशक (१५५) आनन्द वर्षक (१५६) मुक्त स्वरूप (१५७) अत्यन्त उपास्य (१५८) दूर (१५९) समीप (१६०) बाहर

(१६१) भीतर (१६२) संयोजक (१६३) वियोजक [१६४] प्रजापति [१६५] प्रजा पालन शक्ति दाता [१६६] सर्वोत्तम तेजस्वी [१६७] जीव शरीर संयोजक वियोजक [१६८] मोक्ष धाम नियामक [१६९] पराक्रम वा पुरुषार्थदा [१७०] शान्ति स्वरूप [१७१] त्रिदेह उल्लङ्घक [१७२] आत्म व्यापी [१७३] त्रिप्रकार जगत् रचयिता [१७४] विवेकी प्रत्यक्ष [१७५] अविवेकी अदृश्य [१७६] अभय दाता [१७७] अकरण प्रत्यक्ष [१७८] आप्ततम [१७९] एक अवयव [१८०] सर्वथा सर्वोत्तम [१८१] अमूर्त्त [१८२] नित्य जागरूक [एक समान जागने हारा] [१८३] शान्ति दाता [१८४] वीर्य सेचक [१८५] अत्यन्त सहिष्णु [१८६] सहन दाता [१८७] प्राणाधार [१८८] सर्वत्र समवर्त्ती [१८९] लोकः [दर्शक द्रष्टा दर्शनीय प्रत्यक्ष] [१९०] आश्चर्य स्वरूप [१९१] सर्वोत्तम मेधावी [$१\frac{९}{३}$] मेधावी प्रियकर [१९२] मेधादाता [१९३] अवञ्चक [१९४] सर्व भिन्न भिन्न रूपकर्त्ता [१९५] सङ्गठित करने वाला [१९६] पराक्रम एवं पुरुषार्थ स्वरूप [१९७] स्तुति पात्र [१९८] अस्तुति अपात्र [अयोग्य] [१९९] अप्रतिनिधि [२००] सर्वोपरि पूजनीय [२०१] सर्वोत्तम वक्ता [२०२] शासन शास्त्र वेद प्रकाशक [२०३] सहिष्णु सहिष्णुता दाता [२०४-५] सर्व सूत्रात्माओं का सूत्रात्मा [२०६]

८८—"स॒प॒र्यगा॑च्छु॒क्रमकायम॑व्रण॒मस्ना॑वि॒र ꣳ शु॒द्ध म॑पाप॒विद्ध॑म् । क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑यम्भू॒र्या॑था तथ्य॒तोऽर्था॑न्व्य॒दधा॑च्छाश्व॒तीभ्य॒: समा॑भ्य॒: ॥ (य० ४०।८)

भाषार्थः—वह वीर्य स्वरूप सर्व शक्तिमान् निराकार स्थूल सूक्ष्म और कारण तीनों देहों (बन्धनों) से नित्यमुक्त अखण्ड होने से अछेद्य (न खण्डित किये जाने योग्य) नित्य शुद्ध सर्वज्ञ एवं विवेक स्वरूप होने के कारण पाप मात्र से सर्वतः सर्वथा सर्वदा पृथक सर्वज्ञ होने से वेद प्रकाशक जीवों का अन्तर्यामी नास्तिक दुष्टों का तिरस्कार कर्ता सर्वजेता अजेय सर्व अपमानक अनपमान्य सर्वशासक प्रेरक रक्षक, स्वरक्षित, स्वयम्भू. अनादि (बेबना अर्थात् शरीर बनाने के साधन माता पिता हीन अथवा स्वरूप बनाने वाले अन्य ईश्वर रहित सर्व भावयता सर्व व्यापक परमेश्वर जगत् के सब भोग्य पदार्थों तथा उनके भोगने के नियम रूपी चारों वेदों को सदैव एक समान अपनी स्वरूप अनादि प्रजाओं (अपने अमृत पुत्र जीवों के लिये) नित्य निरन्तर रचा करता है ॥ (यजु० ४० । ८)

भावार्थः—परमेश्वर संसार के सर्व चीजों का स्वामी, अपने सब कार्य करने में सर्वथा समर्थ और स्वतन्त्र हैं। उसका स्वरूप अनन्त और अखण्ड होने से वह न किसी शरीरादि उपाधि

नामधारी जगदंश में बन्द होकर शरीरी कल्पित किया जा सकता है और नहीं समग्र जगत् उसका कारावास कहा जा सकता है। जिस वस्तु में वायु वा आकाशवत् खण्ड होते हैं उसके खण्डों की मध्यवर्तिनी सन्धि में माया (प्रकृति) की उपाधि आ जाने से वे खण्ड अलग हो जाते वा उपाधि में घिर जाते हैं नकि अखण्ड एवं अवयव सन्धि हीन चेतन ब्रह्म के मध्य में कोई उपाधि प्रवेश कर सकती है। जो वस्तु अवयवों वा खण्डों से बनती है उसके अवयव वा खण्ड अलग २ हो सकते हैं परन्तु जगदीश्वर न बना और नहीं अनेक अवयवों वाला है अतएव कभी खण्डित नष्ट वा भिन्न भी नहीं हो सकता अखण्ड और सन्धि (छेद आदि) रहित होने से न किसी वस्तु के उसमें प्रविष्ट होने एवं मिल जाने से वह स्वरूप से अशुद्ध हो सकता है। नहीं विवेक स्वरूप (अत्यन्त विवेकी) होने से माया (परमाणु समूह) के स्वरूप पर मोहित हो एवं माया देवी के भ्रम जाल में फंस कर ज्ञानतः अपवित्र हो सकता है। किन्तु उसके उपासक भी माया जाल को तोड़ कर मुक्त हो जाते हैं। वह सर्व वस्तुओं एवं पदार्थों का यथावत् एक समान निर्भ्रान्त पूर्ण ज्ञाता है; अपने अयोग्य अशोभन कर्म कभी नहीं करता, जीवात्माओं से सूक्ष्मतर और उनमें सदा से व्यापक होने से उनके आत्म भावों को यथार्थ जानता है। वह सब से बलिष्ट है। उसका कोई शत्रु सामना नहीं कर सकता। सर्वत्र समानवर्त्ती होने से सब को एक संग शिक्षा दे सकता है। रक्षा करता है।

वह स्वयं सिद्ध है उससे पहला कोई एवं कुछ नहीं जिस से वह सिद्ध होता। सब का परीक्षक, वह सब कार्य और कारण जगत् में निरन्तर ओत प्रोत व्यापक होता हुआ सब से बाहर अनन्त देश (स्थान) में ठहरा है। वह ही सब जगत का कर्त्ता तथा चारों वेदों का प्रकाशक अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में महर्षियों का पढ़ाने वाला है। तीनों कालों में एक समान किसी न किसी लोक आदि को रचता रहता है अर्थात् महा सृष्टि हो चुकने पर लघु सृष्टि प्रलय ब्रह्म दिन में और महा प्रलय समाप्त होने पर लघु प्रलय सृष्टि महारात्रि में निरन्तर करता रहता है। इस प्रकार ईश्वर स्व स्वरूपवत् नित्य गुण कर्म स्वभावों से भी नित्य एक रस है। उसके अमृत पुत्र जीवात्मा भी ऐसे ही स्वरूप से अनादि हैं॥ (य० ४० । ८)

सारः—परमेश्वर सर्वव्यापक (१) एवं सब को व्यापन शक्ति दाता (२) सर्व शक्तिमान् (४) स्वतन्त्र (५) सर्वजेता (१२) अजेय (१३) सर्व रक्षक (१७) स्वरक्षित (१८) चेतन (१९) नित्य ज्ञान क्रियायुत (२०,२१) सर्वज्ञ (२२) बुद्ध (४६) निर्भ्रान्त (६९) अनायास जगत् कर्त्ता (८३) नित्य एक रस कर्त्ता (८७) दुष्ट नाशक वा परि भविता ((१०४) सर्व अपमानक (१०८) अनपमान्य (१०९) स्वयम्भू (१२९) सर्व भावयिता (१३०) निराकार (१३५) निर्विकार (१३६) अत्यन्त पवित्र (१३८) पवित्र कर्त्ता (१३९) अनन्त बली (१४०) निष्पाप (१४१) वेद वक्ता (१४४) अनवतारी (५४) सर्व शासक अशास्य (१४५) सर्व प्रेरक (१४६)

अपरिणामी (१५१) नित्य एक रस गुण कर्म स्वभाव एवं स्वरूप वाला नित्य मुक्त स्वभाव (१५७), (१५२)। (य० ४० । ८)

८८—नकिरिन्द्रत्व दुत्तरो नञ्यायां अस्ति वृत्रहन्। नकिरेव यथात्वम्॥ (ऋ० ४।३०।१)

भाषार्थः—हे दुष्ट नाशक जगदीश्वर! तुम से बढ़ कर कोई गुणी नहीं है। तुम अनन्त स्वरूप हो तुमसे महत्तर (अधिक बड़ा) कोई पदार्थ नहीं है। तुम्हारे समान गुण कर्म स्वभाव एवं स्वरूप में भी कोई नहीं है। अतएव तुम अनुपम हो॥ (ऋ० ४।३०।१)

सारः—परमेश्वर सर्वाध्यक्ष सर्वैश्वर्य स्वामी (७१—७३) दुष्ट-नाशक-घातक-ताड़क (१०३—१०६) सर्व गुण कर्म स्वभाव तथा स्वरूप में सर्वोत्तम (१८१) और (३२) अनुपम अनुत्तर (१४७) है॥ (ऋ० ४। ३०। १

८०—"अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमवरुन्द्धे। योऽजं पञ्चौदन दक्षिणा ज्योतिषं ददाति॥ (अथ० ९। ५। २२)

भाषार्थः—जो जीवात्मा अजन्मे अचल प्रकट किये पदार्थों को मेघवत् सींचने एवं पुष्ट करने वाले प्रकाश एवं ज्ञान दान देने वाले परमेश्वर के लिये आपको अर्पित करता है वह अनन्त

स्वरूप परम पूजनीय ओ३म् को निश्चय प्राप्त करता है और उस प्रतिमा हीन सर्वदर्शी दर्शनीय जगदीश्वर का साक्षात् दर्शन करता है ॥ (अथ० ६ । ५ । २२)

भावार्थः—परमात्मा अजन्मा अनन्त स्वरूप एवं कूटस्थ अचल जगद्धर्त्ता भर्त्ता ज्ञान एवं प्रकाश दाता अमूर्त्त एवं अनवतारी और इस लिये परम पूजनीय हैं। जो जीवात्मा निष्काम परोपकार करता हुआ ईश्वर की आज्ञा मात्र में चलता है वह ईश्वर को प्रत्यक्ष तथा प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। (अथ० ६।५।२२)

सारः—परमेश्वर अचल (२६) अनादि (१५) अनन्त (१६) अमूर्त्त अप्रतिमा (१४८) (१८२) भर्ता (८५) ज्ञान दाता (२३) दर्शनीय, सर्वदर्शी-दृश्य-दर्शक-द्रष्टा. (५८—६२) अजन्मा (१३७) है ॥) अथ० ६ । ५ । २२)

८१..."यदजः प्रथमं संबभूव सहतत् स्वराज्य
१ २ ३ ४ ५ ६ ८ ७ ८
मिमाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ (अ० १०।
९ १० ११ १२ १३ १४
७ । ३१)

भाषार्थः—जो अजन्मा परमेश्वर सब में मुख और सब से पहला सर्व शक्तिमान् है वह ही स्वतन्त्र उस राज्य को पाता है जिस राज्य से बढ़ कर कोई राज्य नहीं हो सकता ॥ (अथ० १० । ७ । ३१)

सारः—परमेश्वर अजन्मा (१३७) नित्य समर्थ (७७) एवं

सर्व शक्तिमान् (४) सर्वोपरि स्वतन्त्र (५) अनवतारी (५४) राजा है ॥ अ० १० । ७ । ३१)

८२---"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ (य०
११ १३ १२ १३ १४ १६ १५ १७
४० । ५)

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवो ! वह ब्रह्म सब को चलाता है आप नहीं चलता। वह दूर है और समीप ही है। वह सब जगत् जड़ एवं चेतन पदार्थों के अन्तर है और वह निश्चय करके इस सब जगत् के जो नेत्रादि इन्द्रियों, अन्तः करणों और आत्मा से देखा जाता है बाहर भी वर्त्तमान है ॥ (य० ४०।५)

भावार्थः— मनुष्य नाम शरीर (वास स्थान) का है और जीव उस शरीर का वासी है अतएव मनुष्य जीव कहा गया है। यद्यपि बालकों को ब्रह्म चलता जान पड़ता है परन्तु वह अनन्त है उससे बाहर कोई स्थान नहीं चले किधर को 'वास्तव में अचल है' मूर्खों को ऐसे ही चलता जान पड़ता है जैसे चलती रेलगाड़ी में बैठे मनुष्य जीवों को मार्गस्थ वृक्ष चलते दीखते हैं, वह अज्ञानियों से दूर है। सब तीर्थों में ढूढ़ कर निराश हो जाते है। ज्ञानियों से अत्यन्त निकट उनके अन्तर अर्थात् आत्मा में स्थित है। वे (ज्ञानी) बुद्धि रूप तीर्थ (तारने वाले) ईश्वर के स्थान में उसका साक्षात् दर्शन करते हैं वह

ओ३म् जगत् के प्रत्येक पदार्थ (अत्यन्त स्थूल वा महान् जड़ पदार्थ से लेकर जड़ों में अत्यन्त छोटे परमाणु तक) में तथैव सब चेतन जीवात्माओं में भी व्यापक है क्योंकि ब्रह्म जीवों से भी सूक्ष्मतर (अधिक पतला) है। और सब कार्य और कारण जगत् के बाहर अनन्त हैं। और इसी कारण 'नित्य मुक्त' है अतएव न कभी उतरता और नहीं चढ़ता कहा जा सकता है॥ (य० ४० । ५)

सारः—परमेश्वर सब चालक (२८) अनवतारी (५४) अचल (२६) दूर (१५६) और समीप (१६०) भीतर (१६१) और बाहर (१६२) अर्थात् ओत (७) प्रोत (८) और नित्य मुक्त (१५७) है॥ (य० ४० । ५)

८३---"वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳसञ्च विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ (य० ३२ । ८)

भाषार्थः—हे मनुष्यस्थ जीवात्माओं! जहां सब जगत् एकाश्रयी वा एकाधारी (समानाधिकरण) होता है उस निराकार आत्म दृश्य सत्य एवं नित्य मुक्त प्रकाश स्वरूप बुद्धि एवं आत्म स्थ ओ३म् को वेदज्ञ योगी आत्म दर्शी देखता है। उसमें यह सब जगत् कारण परमाणुओं रूप में होकर महारात्रि में ठहरता है और ब्रह्म दिन में उसी के आश्रय एवं ज्ञान से नाना रूपों

को प्राप्त करता है। वह सर्व पदार्थों में माला में सूत्र सदृश प्रविष्ट और सर्व जड़ एवं चेतन जगत् पदार्थ सामूहिक रूप से उसमें आकाश समान समाविष्ट हो रहा है। वह जगतपिता सब प्रजाओं में, उत्पन्न एवं प्रकट किये हुए जड़ चेतन पदार्थों में इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर से व्यापक हुआ विवेकियों के लिये प्रकाशित हो रहा है॥ (य० ३२ । ८)

भावार्थः—सब जड़ पदार्थों तथा चेतन आत्माओं का एक मात्र आधार ब्रह्म है। वह ही सब कार्य पदार्थों को परमाणुओं से रचता है, वह ही रचे हुए जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को अलग अलग करके जीवात्माओं के शयन (आराम) करने और परमाणुओं के पुनः प्रयोज्य होने के लिये प्रलय कर देता है। वह अत्यन्त पतला होने से सब जगत् में सूत्रवत् प्रविष्ट है (देखो "वेदाहं सूत्रं वितते यस्मिन्नोतः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्र स्याहं वेदाथोयद् ब्राह्मणं महत्" अथ० १०।८।३८ एवं विश्व व्यापक वैदिक नियम १ मन्त्र ४), और अत्यन्त महान् होने से सब जगत् उसी में ठहरा हुआ है। वह सर्वत्र प्रकट है। अवेदज्ञ अयोगी आत्म चक्षुहीन आत्मा उस प्रकाश स्वरूप को दर्शनीय एवं दृश्य भी नहीं मानते किन्तु वेदज्ञ योगी आत्मदर्शी द्रष्टा आत्मा उस सूर्यों के सूर्य स्वतः प्रत्यक्ष को साक्षात् देख कर मुक्त हो जाते हैं॥ (य० ३२।८)

सारः—ईश्वर सर्वाधार (३) सृष्टिकर्त्ता संहर्त्ता (८६) ओत

(७) प्रोत (८) विभू (९) अत्यन्त महान् (१०) अत्यन्त सूक्ष्म (११) प्रकाश स्वरूप (१२) सर्व चेतन प्रत्यक्ष (५७) है ॥ (य० ३२।८).

८४—"हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (य० २३।१)

भाषार्थः—हे जीवात्माओ ! जो स्वतः सिद्ध परमात्मा सृष्टि के पहले सूर्यादि ज्योतियों के कारण का भी धारण करता हुआ कार्य जगत् की उत्पत्ति के पहले से निर्विकार एवं निराकार रूप से नित्य एक रस जागृत वर्तमान रहता है और जो सर्वाधार एवं सर्व शक्तिमान् होने से सब उत्पन्न हुए संसार का असहाय स्वतन्त्र रक्षक होता है; उसीने इस जगत् को रचकर सब उजेले और इन पृथिवी आदि अन्धेरे लोकों तथा अन्तरिक्ष को धारित किया है; उसी सुख स्वरूप सांसारिक एवं पारमार्थिक (मोक्ष) सुखानन्ददाता की मन वचन से भक्ति किया करें ॥ (य० २३।१)

भावार्थः—परमेश्वर नित्य जागरूक (जागता हुआ), स्वयम्भू एवं निराकार निर्विकार और सर्व व्यापक होने से सृष्टि के पूर्व सब कारणों का धारण करता है । पुनः जगद्रचना करके प्रकाशित अप्रकाशित लोकों आदि का धारण पोषण करता है । सर्व शक्तिमान होने से बिना किसी की सहायता के सब जड़ चेतनों का स्वतन्त्र अकेला स्वामी और रक्षक है । उसी लोक सुख और मोक्षानन्ददाता की सब को उपासना करनी चाहिये ॥ (य० २३।१)

सारः—परमेश्वर नित्य जागरूक (१८५) सर्वरक्षक (१७) सर्व स्वामी (७१) स्वतन्त्र (५) सर्वाधार (३) सर्व कार्य आदि प्रारम्भक (६३) है ॥ [य० २३।१]

८५—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ (य० ३२।१).

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवो ! वह ही सर्वव्यापी, सर्वाधार सर्वज्ञ नित्य जागृत सनातन अनादि अनन्त सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव न्यायकारी दयालु जगत् स्रष्टा, धर्ता और सब का अन्तर्यामी ही स्वयं प्रकाश स्वरूप सर्व प्रकाशक पथदर्शक दर्शनीय द्रष्टव्य स्वतः प्रत्यक्ष होने वाला सर्वज्ञ सर्वज्ञापक ज्ञान स्वरूप स्वयं परिचायक एवं दाहक संयोजक वियोजक होने से अग्नि, वह प्रलय समय सब को ग्रहण करने और अखण्ड होने से आदित्य; सर्व चालक, चलने की शक्ति देने वाला सर्व सुगन्धोत्पादक, दुर्गन्ध निवारक अनन्त बली होने से वायु; वह ही शाँति स्वरूप अत्यन्त मनोहर शान्तिदाता, आनन्द स्वरूप आनन्ददाता होने से चन्द्रमा; वह ही शुक्रकारी

वीर्य सेचक शुद्ध स्वभाव सर्व शोधक शुद्ध अन्तःकरणस्थ आत्मा को प्रत्यक्ष होने वाला होने से शुक्र; वह अत्यन्त महान् अत्यन्त वृद्ध सर्व वर्धक वृद्ध साधनदाता होने से ब्रह्म; वह सर्वत्र व्यापक सर्व प्रापक एवं प्राप्य सर्व विद्या आदि में व्यापन शक्ति आदि दाता होने से 'आपः, वह प्रजा पालक प्रजा पालन शक्ति दाता आदि होने से प्रजापति [स्वामी और रक्षक] है ऐसा तुम निश्चय से जानो ॥ [य० ३२।१]

भावार्थः—अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति ये नाम परमेश्वर के हैं। परमेश्वर में इन नामों के प्रकट होने वाले उपर्युक्त गुण कर्म स्वभाव पूर्ण अनन्त और स्वतन्त्र एवं नित्य एक रस है परन्तु अन्य चेतन जीवों में अपूर्ण सान्त परतन्त्र सामयिक एवं अनित्य अनेक रस अर्थात् कभी क्रियात्मिक कभी सत्तात्मिक हैं और जड़ पदार्थों में ये सब केवल साधन रूप से हैं, कर्त्ता रूप से केवल ज्ञानवान् [चेतन] में ही हो सकते हैं। अतएव उक्त नाम ईश्वर के लिये मुख्य, अन्य पदार्थों के लिये गौण हैं ॥ [य० ३२।१]

सारः—परमेश्वर प्रकाश स्वरूप, [६१] सर्व प्रकाशक, [६३] दर्शक, [५६] सर्वदर्शी [५८] दर्शनीय, [६०] द्रष्टव्य [६१] स्वतः प्रत्यक्ष, [१७८] सर्वज्ञ [२२] सर्वज्ञापक [२३] (ज्ञान दाता) स्वपरिचायक सर्व परिचय योग्य सर्व परिचायक [६४, ६५] दाहक [१२८] संयोजक [१६३] वियोजक [१६४] सर्व ग्राहक [रक्षक] (१३२] अखण्ड वा एक अवयव [१८०] सर्व

चालक [२८] गमन सहायक [३०] अनन्त बली [१४०] शान्ति स्वरूप [१७१] शान्ति दाता [१८४] सौंदर्य स्वरूप [अत्यन्त मनोहर] [३१] आनन्द स्वरूप [४५, ४३] आनन्द [हर्ष] दाता [४४] वीर्यदाता [१४३] वीर्य सेवक [१८५] शुद्ध स्वाभाव [१३८] शुद्धान्तःकरण प्रत्यक्ष होने वाला [५७] अत्यन्त महान् [१०] अत्यन्त वृद्ध [पूर्ण] [११८] सर्वथा सर्व वर्धक [११६] वृद्धि साधनदाता [११७] सर्वव्यापक [१] सर्व प्रापक [६६] सर्व प्राप्य [६७] सर्व विद्या आदि में व्यापन शक्ति दाता [२] प्रजापति [१६५] प्रजापालन शक्ति दाता [१६६] [य० ३२।१]

"पात्यग्निर्विपो अग्रंपदंवेःपाति यह्व श्चरणं सूर्यस्य । पाति नाभा सप्त शीर्षाणमग्निः पाति देवानामुपमादमृष्वः ॥ (सा० ६।३।१३) मं० सं० १५ पर इसका भाष्यादि देखे ॥

'पात्यग्निः.....मन्त्र का ईश्वर सम्बन्धी ।

सारः—परमेश्वर मेधा स्वरूप [१५०] जीव और शरीर संयोजक वियोजक [१६८] मोक्षधाम नियामक [१६६] अत्यन्त महान् [१०] गमन रक्षक वा सहायक [३०] ज्ञान स्वरूप अत्यन्ततीव्रमति [२२+५१] तीव्र मति दाता [५३] स्वाभाविक ज्ञान क्रियायुत [२०+२१] [सर्वोत्तम तेजस्वी] [१६७] [सा० ६।३।१३]

(८६) "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसिबलं मयि धेहि । ओजोऽ

१७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५
स्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि
२६ २७ २८ २९ ३०
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ [य० १९।९]

भाषार्थः—हे परमात्मन्! आप अत्यन्त तीक्ष्ण मति हैं, तीव्र मति मुझ में रखें, आप वीर्य एवं पराक्रम स्वरूप हैं वीर्य तथा पराक्रम मुझ में धारित करें, आप अत्यन्त बली हैं मुझे बल दें, आप उत्साह एवं चेतनता स्वरूप हैं मुझे उत्साहित तथा समर्थ करें। आप प्रताप एवं शासन शक्ति स्वरूप हैं, सात्विक क्रोध (प्रताप एवं इन्द्रियादि शासन बल) मुझ में रखें, आप सहन शील हैं। सहन तथा स्वाधीन करण शक्ति मुझे दें ॥ [य० १९।९]

सारः—परमात्मा अत्यन्त तीक्ष्णमति [५१] एवं विवेकी [५२] तीव्रमतिदाता [५३] पराक्रम [१७०] तथा वीर्य निधि[१४२] वीर्यदाता, [१४३] अत्यन्त बली [१४०] बलदाता अत्यन्त चेतन [१६] चैतन्य (ज्ञान क्रिया शक्ति) दाता, अत्यन्त प्रतापी [६४] प्रतापप्रद, [६५] अत्यन्त सहिष्णु [१८६] सहन शक्ति दाता [१८७] है, उत्साह स्वरूप [१२५] उत्साह दाता [१२६] [य० १९।९]

[८७] "विश्वतश्चक्षु रुत विश्वतो मुखो
१० ११ १२ १३ १४
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् । संबाहुभ्यां धमति
११ १६ १० १८ १९ ९ ८ १०

६ ५ ३ ४ ७ २ १
सपतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन्देव एकः ॥ [ऋ० १०।८१।३]

भाषार्थः—जो असहाय स्वतन्त्र सर्व दिव्य गुणशक्ति स्वरूप जगत् प्रकाशक सर्वेश्वर, प्रकाशयुत और अन्धेरे लोकों को उनके सम्बन्धी सर्व पदार्थों सहित अपनी स्वाभाविक रचना संहार धारण पोषणादि शक्तियों से अनायास क्रीड़ी रूप रचता हुआ, नित्य स्वरूपस्थ ज्ञान क्रिया से सम्यक् संहार अर्थात् रचना वा संयोजन के समान अनायास क्रीडा रूप वियोजन [अलग २ करना] करता है। वह अनन्त सर्व व्यापक जगदीश्वर जगदपेक्ष बाहर भीतर सब ओर से दृशक, द्रष्टा दृश्य एवं चक्षु स्वरूप, और बाह्यान्तर सर्वतः वक्ता उपदेशक प्रेरक मुख स्वरूप, सब ओर से ज्ञान क्रिया रूप बाहु युत वहन प्रापन एवं ग्रहण सामार्थ्य स्वरूप; और सब ओर अन्तर बाहर से व्यापन एवं गमन शक्ति युत पाद स्वरूप है ॥ [ऋ० १०।८१।३]

भावार्थः—वह जगदीश्वर सर्व कार्य असहाय कर सकने से सर्व शक्ति मान् एवं स्वतन्त्र है। उसमें सर्व ज्ञान क्रिया और बल स्वाभाविक, पूर्ण और अनन्त हैं, ["नतस्यकार्यं करणं च विद्यते नतत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच॥ (श्वेता श्वतर० ६।८) इस आर्ष वचन से भी प्रत्यक्ष है कि न ईश्वर से उपादान कारणवत् कुछ बना, न उसका कुछ साधन (हाथ आदि) है।

और कोई उसके समान है नहीं उससे अधिक वा किसी भाँति बड़ा है। उसकी शक्ति अनन्ता अपारा नाना प्रकार की वेद वर्णिता करता है। उसमें ज्ञान क्रिया और सर्व बल स्वाभाविक हैं।] जिनके तुच्छांश से जगत् की रचनादि करता है।

वह एक अवयव अखण्ड होने से उसके अनन्त सर्वव्यापक स्वरूप में सर्वत्र श्रवण दर्शन स्पर्शन ग्रहण प्रापन व्यापन भाषण संयोजन वियोजन आदि आदि सर्व शक्तियां एवं सामर्थ्य एक समान और नित्य जागरूक, चेतनता स्वरूप होने एक मात्र क्रिया अवस्था में (क्रियात्मिक) रहती हैं। जीवकी न्यायी सत्तात्मक कभी नहीं होती ॥ [ऋ० १०।८१।३]

सारः—जगदीश्वर स्वतन्त्र (५) सर्वशक्तिमान [४] स्वाभाविक ज्ञान क्रिया युत [२०।२१] प्रकाश स्वरूप [६१] स्वयं प्रकाश [६२] सर्व प्रकाशक [६३] अनायास, क्रीडा रूप जगत्कर्त्ता [८३] संहर्त्ता [८६] द्रष्टा, दृश्य, दर्शनी दर्शक [५६-६२] वेद वक्ता वा अध्यापक शिक्षक [२७, १४४] प्रापक [६७] ग्रहक ग्रहण एवं भक्षण साधनादिदाता [१३२।१३३] सर्व व्यापक [१] व्यापन शक्ति एवं साधनदाता [३०।२] सर्व प्राप्य [६६] श्रोत्र स्वरूप [६७] श्रोता [६८] श्रावक [६६] श्रवणशक्ति एवं साधनदाता [७०] ॥ [ऋ० १०।८१।३]

(८८) "सत्यं चतं च चक्षुषी विश्वं सत्यं श्रद्धा

प्राणो विराट् शिरः । एष वा अपरिमितो यज्ञो यदजः पञ्चौदनः ॥ [अथ० ८।५।२१]

भाषार्थः—हे जिज्ञासु जीवात्माओं ! अविकारी अपरिणामी सर्वदा एकरस स्वरूप ओ३म् के गुण कर्म स्वाभावों का भी नित्य एक समान क्रियात्मिक रहना और यथार्थ सर्व लोक मोक्ष विद्याओं के भण्डार वेदों और इनका प्रकाश सर्व आत्माओं के लिये दो चक्षु लोक और मोक्ष पथ दर्शक हैं। समस्त सत्य अर्थात् सत्य बोलना, सत्य मानना, सत्य ही आचरण करना अथवा सत्य वेद सुनना, सत्य वेदेश्वर का मनन करना और सत्य स्वरूप परमेश्वर से योगाभ्यास करना, एवं उसी सत्य को नित्य प्रति धारण करना आत्माओं के लिये वास्तविक जीवन का आधार है। और नाना विधि प्रकाशमान होने से अत्यन्त आकर्षक ब्रह्माण्ड उन्हीं जीवात्माओं के लिये एक मात्र हिंसक है अर्थात् अविवेकी विषय भोग की इच्छा करने हारे जीवों को स्वसमान जड़ बनाने हारा और यह ही यथार्थ मृत्यु है। जिससे वह ही अनादि अनन्त स्वरूप अप्रतिमा अजन्मा सर्वोत्तम पूजनीय अर्थात् आत्मा में धारणीय परमेश्वर पञ्च भौतिक पदार्थों का बन्धनमें पड़े [शरीर धारी] आत्माओं के भोगार्थ सींचने वा देने वाला है ॥ [अथ० ६।५।२१]

भावार्थः—जो विवेकी आत्मज्ञ जीवात्मा ईश्वर उपासना

करता है। उसके लिये सत्य स्वरूप परमेश्वर के सत्य गुण कर्मादि और वेद दो आखों का कार्य करते हैं, वह नित्य सब कार्य सत्यासत्य के विचार से करता है और सर्व लोक सुख भोगता हुआ मोक्ष के लिये भी यत्न करता है और यह ही जीवन है, किन्तु अविवेकी जीवन आत्मा परमात्मा को जानता है और नहीं वेदेश्वर से शिक्षा ग्रहण करता है' उसके लिये संसार के भोग वासनायें दुष्ट से दुष्ट बन्धन में पड़ने एवं विविध जन्म मरणादि दुःख पाने के साधन का कार्य करती हैं एक 'रससत्य स्वरूप कभी उतरता (मनुष्य शरीर धरता) नहीं है।

सारः—परमेश्वर अविकारी [१३६] अपरिणामी [१५१] नित्य एक रस गुण कर्म स्वभाव और स्वरूप वाला [१५२] अनवतारी [५४] अनादि [१५] अनन्त [१६] अप्रतिमा [१८२] अजन्मा [१३७] सर्वोत्तम पूजनीय [२०१] पथ दर्शक [१५६] [अथ०१।५।२१]

(८८) अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेनतृप्तो न कुतश्चनोनः तमेव विद्वान् नबिभाय मृत्योरात्मानं धीरं अजरं युवानम् ॥ (अथ०१०।८।४४)

भाषार्थः—जगदीश्वर आप्त काम, अभय एवं अचल, अमर एवं नित्य मुक्त स्वयमेव वर्त्तमान वा अजन्मा [अनादि] पूर्ण बली एवं आनन्द स्वरूप, किसी भी गुण कर्म तथा शक्ति में

अपूर्ण नहीं है। उसी सर्व व्यापक अचल अत्यन्त स्थिर स्वभाव निर्भ्रान्त ज्ञान दाता अजर [क्षय रहित] सर्व शक्ति पूर्ण को जान कर जीवात्मा मरण दुःख एवं प्रकृति [जड़ पदार्थ] से निर्भय हो जाता है ॥ [अथ० १०।८।४४] धीरः=धैर्यवान्। धीरः=ज्ञान प्रद ॥

सारः—परमेश्वर आप्तकाम निष्काम कर्म करने वाला [३६, ३७] अभय [१४] अमर [१०७] अजर [७८] स्वयम्भू [१२६] अन्यून दोष हीन [१५४] अयाचक [८२] अभय दाता [१७७] सर्व व्यापक [१] निर्भ्रान्त [४६] निर्भ्रान्त ज्ञान दाता [२३] अत्यन्त पूर्ण [११८] मृत्यु भय नाशक [१५५] ॥ [अथ० १०।८।४४]

(१००) ऐन्द्रस्य कुक्षा पवते मदिन्तम ऊर्जं वसानः अवसे समङ्गलः । प्रत्यङ्स विश्वा भुवनाभि पप्रथे क्रीडन् हरिरत्यः स्यन्दते वृषा ॥ (ऋ०९।८०।३)

भाषार्थः—वह आनन्द स्वरूप मङ्गलमय जगदीश्वर जीवात्माओं को कर्म करने के साधन प्राप्त करने एवं रहने के लिये प्राणाधार एवं सर्वाधार होता हुआ उनके अन्तः करणों को प्रेरणा द्वारा पवित्र करता है। वह अनन्त बली सर्व व्यापक होता हुआ अनायास क्रीड़ा रूप साक्षात् सहज स्वभाव से

सर्व लोक लोकान्तरों को रचता है। और सर्वत्र परिपूर्ण होता हुआ आनन्द की वर्षा करता है [ऋ०९।८०।३]

भावार्थः—आनन्द प्राणी मात्रको प्रत्येक क्षण मिलता है वरन इतना भारी शरीर भार लादे हुए जीव शरीर में नहीं ठहर सकता है गाढ़ निद्रा में शारीरिक क्रियात्मिक ज्ञान न रहने से उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है और जागृति में शरीर की क्रियाओं के करने से अस्पष्ट बोध होता है ॥

सारः—ईश्वर आनन्द स्वरूप [४५] मङ्गलमय [४½] पवित्र करने हारा [१३८] प्राणाधार] [१८८] सर्व व्यापक [१] अत्यन्त बली [१३०] अनायास क्रीड़ा रूप जगत् कर्त्ता [८३] सर्वत्र परि पूर्ण [½] अवतारी [५४] आनन्द की वर्षा करने वाला [१५६] [ऋ०९।८०।३]

(१०१) योजिनाति न जीयते हन्ति शत्रुमभीत्य
स पवस्व सहस्त्रजित् ॥ (ऋ०९।५५।४)

भाषार्थः—जो परमेश्वर सब को जीतता है आप नहीं जीता जाता, वह अनन्त शक्ति असंख्यों का निर्भय जीतने हारा निर्भय शत्रु हन्ता हमें पवित्र करे [ऋ०९।८०।३)

सारः—परमेश्वर सर्व शक्तिमान् एवं अनन्त बली होने से सब का जीतने हारा [१२] अजेय वा अजित [१३] अभय [१४] दुष्ट शत्रु नाशक [१०४] दुष्ट घातक [१०३] सब का

पवित्र करने वाला [१४६] असंख्य जनों को जीतने हारा [१२] ॥ [ऋ० ९।८०।३]

(१०२) सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताग्ने जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जानतोत विष्णोः ॥ (ऋ०९८६।५)

भाषार्थः- अत्यन्त शान्त सर्वोत्पादक पवित्र स्वरूप ज्ञानों एवं ज्ञानियों का उत्पन्न करने वाला द्युलोक एवं सर्व प्रकाशों का उत्पादक, सूर्यों का रचने हारा, पृथिवियों का बनाने वाला, अग्नि पदार्थ तथा प्रतापी राजाओं और विद्वानों का प्रकाशक विद्युत् [बिजली] व कर्म योगी का प्रकट करने हारा तथा यज्ञ वा पूजनीय [संगति योग्य] ज्ञानयोगी विद्याओं में व्यापक आत्मा को शरीर द्वारा प्रकाशित करने वाला जगदीश्वर सब को पवित्र करे ॥ [ऋ०९।९६।५]

भावार्थः—सर्व व्यापक सर्वाधार सर्वज्ञ परमेश्वर सर्व लोकों, उनके वासी आत्माओं के शरीरों एवं अन्य पदार्थों को कारावासी जीवात्माओं के लिये उत्पन्न करता है, वह ही सर्व ज्ञानों का दाता तथा ज्ञानी, योगी आदि होने की इच्छा एवं परिश्रम करने वालों को योगी आदि बनाता है ॥ ऋ०९।९६।५]

सारः—परमेश्वर शान्ति स्वरूप [१७१] सर्व उत्पादक [६३] पावक, [६७] ज्ञानदाता [२३] है। [ऋ० ९।९६।५]

१०३---किंस्वन्नो राजा जगृहे कदस्यातं व्रतं चकृमा को विवेद ॥ मित्रश्चद्धिष्या जुहुराणो देवांच्छ्लोको नयातामपि वाजोअस्ति ॥ अथ० १८।१।३३]

भाषार्थः—किस कर्म का फल हमें परमेश्वर ने सुख दिया, किसका दुःख, उसके किस नियम को हमने तोड़ा, किसको पाला प्रजापति परमेश्वर ही विशेषतया उसको जानता है। जगन्मित्र [मिमीते मृत्यु दुःखा त्रायते समित्रः = सुकर्मियों को आवागमन वा मरण कष्ट से बचाने हारा] वास्तविक ज्ञाता परमेश्वर ही अवश्य उन्मत्तों (आलसियों अभिमानियों वा हिंसक पापियों) को दुःख देता है और पुरुषार्थी दयालु आत्माओं का ही परितोषिक रूप में प्रशंसनीय शारीरिक मानसिकादि बल देने वाला है ॥ (अथ०१८।१।३३)

भावार्थः—जीव अल्पज्ञ होने से यथार्थ नहीं जान सकता कि उसने कौन सा धर्म और कौन सा अधर्म किया परमेश्वर सर्वज्ञ यथार्थ जानता है और निष्पक्ष न्याय करता है।

सारः—सर्वेश्वर सर्व अध्यक्ष [७३] एवं निष्पक्ष [७२] न्यायी है कर्म फलदाता [११५] है। (अ० १८।१।३३)

१०४—"यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्रा-

जा जगतो बभूव। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ (य० २३।३)

भाषार्थः—हम मुमुक्षु जीवात्मा उस आनन्द स्वरूप मोक्षानन्द दाता जगदीश्वर की, जो सब भांति सब से बड़ा होने से एक मात्र असहाय सर्वथा स्वतन्त्र, सब गुप्त वा प्रकट क्रिया करने वाले प्राणियों तथा सर्व जड़ चेतनों से संयुक्त क्रियावान् ब्रह्माण्ड का अध्यक्ष (स्वामी) है और जो इस संसार के सब द्विपद अर्थात् प्राप्ति योग्य दो अर्थ काम, युत पशु आदि भोग यानस्थ जीवात्माओं और चतुष्पद अर्थात् धर्म अर्थ काम मोक्ष, चार पाने योग्य मनुष्य (भोग कर्म उभय वा कर्म देह) स्थ जीवात्माओं का सर्वोपरि निरपेक्ष स्वामी है, आनन्द प्राप्त्यर्थ हम उस सच्चिदानन्द की आत्मशक्ति से उपासना किया करें ॥ (य० २३।३)

भावार्थः—परमात्म पदार्थ स्वरूप अत्यन्त महान् और जीवात्मा पदार्थ स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म (छोटा) है, इसी कारण वह ईश्वर और ये प्रजा हैं और इसी हेतु से ईश्वर जीवों से सब गुण कर्म आदि से महत्तम है। सब जड़ चेतनों का स्वामी है और चेतन मात्र का उपास्य देव। दो पाए मनुष्य और चतुष्पाद पशु कहने में, बहुपाद एवं पादहीन शरीरी तथा मुक्त जीवात्मा ईश्वर के आधीन नहीं ठहरते। अतएव उक्तार्थ युक्त है ॥ (य० २३।३)

सारः—ईश्वर (७२) सर्व मुक्त बद्ध जीवों का स्वामी है ॥

१०५—"तावानस्य महिमातो ज्यायाश्च पूरुषः । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ (सा० पू० ६।४।६)

भाषार्थः—कार्य कारण जगत् से उस जगदीश्वर की सत्ता का बोध मात्र होता है। स्वरूप का नहीं। वह सर्वत्र निरन्तर सर्व व्यापक परमात्मा सब जगत् से निश्चय अत्यन्त महान् है। और जो संसारी प्राणी भोग से जीते (शरीर धारण करते) हैं तथा जो मुक्तानन्द भोगते हैं उन सब का सर्वोत्तम अधिष्ठाता एवं अधिपति सर्वाधिपति और अनन्त होने से अनवतारी (५४) है ॥ अर्थात् ईश्वर मोक्षाध्यक्ष (१६६) भी है ॥ (सा० ६।४।६)

१०६—"त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभिसंनवन्ते । तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदे॥ (सा उ० ८।३।१।२)

भाषार्थः—हे नित्य मुक्त जगदीश्वर ! सब विद्वान योगी लोक आत्मा में प्रत्यक्ष होने वाले आपको उत्पन्न हुए पुत्र की न्यायीं (सम) सर्वथा अनन्य भाव से सब ओर से चित्त हटा कर सत्कृत करते अथवा मन और वचन से प्रशंसित वा स्तुत करते हैं। हे सर्व जन नेता ओ३म् ! जब आप ज्ञान और क्रिया से आत्मा में प्रकाशित होते हो तब आप के उपदेश आदि तथा दर्शन से मुमुक्षु उपासक मुक्त हो जाते हैं ॥ (सा० उ० ८।३।१।२)

भावार्थः—जैसे दो अरणियों के पारस्परिक संघर्ष से अग्नि प्रकट होता है ऐसे ही ज्ञान योग क्रिया रूपी अरणी संघर्ष से ओ३म् प्रत्यक्ष होता है। नित्य मुक्त ओ३म्पासना से मोक्ष होता है। तद्विरुद्ध शरीरधारी (बद्ध) की उपासना से बन्धन होता है। अतएव केवल एक निराकार ओ३म् ही सब का उपास्य है ॥ (सा० उ०—८।३।१।२)

सारः—परमेश्वर प्रत्यक्ष पदार्थ है, (५७) एवं नित्य मुक्त (१५७) और मुक्तिदाता है (१२४) ॥ (सा० उ०—८।३ । १ । २)

१०७—रुचिरसि रोचोऽसि स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मण वर्चसे च रुचिषीय ॥ (अथ० १७ । १ । २१)

भाषार्थः—प्रियतम परमात्मन् ! आप प्रीति स्वरूप एवं प्रीति कराने हारे हैं। जैसे आप स्वयं प्रेम के सङ्ग प्रेम कराने वाले हैं वैसा ही मैं सब देखने एवं न देखने वाले प्राणियों के साथ प्रीति से प्रीति और ब्रह्म तेज में रुचि करूं ॥

भावार्थः—सब के संग प्रीत करने से मनुष्य जगन्मित्र बन जाता है जैसा बोते हैं वैसा उपजता है यव (जौ) से यव गोधूम (गेहूं) से गोधूम जैसे प्रेम से प्रेम वैसे ही घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। पशु का अर्थ देखने वा देखे जाने वाला है। अत एव प्रत्येक प्राणि द्रष्टा एवं द्रश्य होने से पशु कहा जाता है॥ (अथ० १७। १। २१)

सारः—परमेश्वर प्रियतम (३६) प्रीति शिक्षक (४०) मैत्री स्वरूप (४१) जगन्मित्र (४२) है॥ (अथ० १७। १। २१)

प्रमाण सं० १० "सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे....." में ईश्वर को सर्व दर्शक (५८) कहा है।

एवमेव सं० ६ "बालादेकमणीयस्क....." में ईश्वर को सर्वालिङ्गक (परिवेष्टा) (५८) तथा अत्यन्त सूक्ष्म पतला (११) कहा है॥

प्रमाण सं० १४ "ऋतावानं विचेतसं....." ओ३म् को सत्य स्वरूप (१५२) सर्वज्ञ (२२) सर्व प्रकाशक (६३) सूर्य वद्दर्शनीय (६०)।

प्रमाण सं० ५० "कस्यनूनं कतमस्यामृतानाँ मनामहे चारु देवस्यनाम" में परमेश्वर को चारु अत्यन्त सुन्दर (३१) कहा है॥

१०८---आशृत् कर्णसुधी हवं नूचिद्धिष्व नो

गिरः। इन्द्रस्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ (ऋ० १।१०।८)

भाषार्थः—हे श्रवण शक्ति रूप कर्ण स्वरूप सर्व श्रोतः सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! जैसे प्रीत बढ़ाने वाला अपने सखा की वाणियों को प्रीत से सुनता है तथैव आप शीघ्र हमारी स्तुति एवं ग्रहणीय सत्य प्रार्थनाओं को सुनिये। तथा हमारी स्तुतियों के इस समूह को अपने ज्ञान में धरिये। युक्त कार्यों में युक्त हुए हम लोकों की भीतर की शुद्धि करिये॥ (ऋ० १।१०।६)

भावार्थः—जगदापेक्ष परमेश्वर बाहर भीतर सब ओर से सर्व स्वस्वरूप से सुनता है। मित्रवत् सब की पुकार निरन्तर सुनता है। सावयव पदार्थ में प्रत्येक कार्य स्थान नियत होता है। निरवयव में सर्वत्र सर्व कार्य होते हैं॥ (ऋ० १।१०।६)

सारः—परमेश्वर सर्व श्रोता (६८) सर्वान्तर्यामि (२४) है॥ (ऋ० १।१०।६)

१०८—त्वमिन्द्रस्त्वंमहेन्द्रस्त्वं लोकस्त्व प्रजापतिः तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यं जुह्वति जुहतस्तव०। (अ० १३।१।१८)

भाषार्थः—हे परमात्मन्! आप सर्व ऐश्वर्य स्वामी हैं, आप सब इन्द्रों (ऐश्वर्य वालों) में महत्तम होने से महेन्द्र कहाते हैं।

भावार्थः—सब के संग प्रीत करने से मनुष्य जगन्मित्र बन जाता है जैसा बोते हैं वैसा उपजता है यव (जौ) से यव गोधूम (गेहूं) से गोधूम जैसे प्रेम से प्रेम वैसे ही घृणा से घृणा उत्पन्न होती है। पशु का अर्थ देखने वा देखे जाने वाला है। अत एव प्रत्येक प्राणि द्रष्टा एवं दृश्य होने से पशु कहा जाता है॥ (अथ० १७। १। २१)

सारः—परमेश्वर प्रियतम (३६) प्रीति शिक्षक (४०) मैत्री स्वरूप (४१) जगन्मित्र (४२) है॥ (अथ० १७। १। २१)

प्रमाण सं० १० "सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे....." में ईश्वर को सर्व दर्शक (५८) कहा है।

एवमेव सं० ६ "बालादेकमणीयस्क....." में ईश्वर को सर्वालिङ्गक (परिवेष्टा) (५८) तथा अत्यन्त सूक्ष्म पतला (११) कहा है॥

प्रमाण सं० १४ "ऋतावानं विचेतसं....." ओ३म् को सत्य स्वरूप (१५२) सर्वज्ञ (२२) सर्व प्रकाशक (६३) सूर्य वद्दर्शनीय (६०)।

प्रमाण सं० ५० "कस्यनूनं कतमस्यामृतानाँ मनामहे चारु देवस्यनाम" में परमेश्वर को चारु अत्यन्त सुन्दर (३१) कहा है॥

१ ६ ८ ५ ३ ६
१०८---आशृत् कर्णसुधी हवं नूचिद्धिष्व नो

२ ११ १० ९ १३ ४ १२
गिरः । इन्द्रस्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम् ॥ (ऋ० १।१०।८)

भाषार्थः—हे श्रवण शक्ति रूप कर्ण स्वरूप सर्व श्रोतः सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! जैसे प्रीत बढ़ाने वाला अपने सखा की वाणियों को प्रीत से सुनता है तथैव आप शीघ्र हमारी स्तुति एवं ग्रहणीय सत्य प्रार्थनाओं को सुनिये। तथा हमारी स्तुतियों के इस समूह को अपने ज्ञान में धरिये। युक्त कार्यों में युक्त हुए हम लोकों की भीतर की शुद्धि करिये॥ (ऋ० १।१०।६)

भावार्थः—जगदापेक्ष परमेश्वर बाहर भीतर सब ओर से सर्व स्वस्वरूप से सुनता है। मित्रवत् सब की पुकार निरन्तर सुनता है। सावयव पदार्थ में प्रत्येक कार्य स्थान नियत होता है। निरवयव में सर्वत्र सर्व कार्य होते हैं॥ (ऋ० १।१०।६)

सारः—परमेश्वर सर्व श्रोता (६८) सर्वान्तर्यामि (२४) है॥ (ऋ० १।१०।६)

१ २ ३ ४ ७ ८ ५ ६
१०९—त्वमिन्द्रस्त्वंमहेन्द्रस्त्वं लोकस्त्व प्रजापतिः
९ १० ११ १३ १४ १२
तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यं जुह्वति जुहतश्चव०। (अ० १७।१।१८)

भाषार्थः—हे परमात्मन्! आप सर्व ऐश्वर्य स्वामी हैं, आप सब इन्द्रों (ऐश्वर्य वालों) में महत्तम होने से महेन्द्र कहाते हैं।

सर्व भौम्य पदार्थों के बनाने धारने हारे होने से विष्णु प्रजा पालक होने से आप प्रजापति हैं। प्रकाश स्वरूप चेतन (स्वाभाविक ज्ञान क्रियावान्) होने से द्रष्टा, दृश्य दर्शनीय सर्व दर्शक तथा लोक, नामधारी हैं। आपकी कृपा, आज्ञा तथा नियम से सर्वयज्ञ विस्तृत किये जाते हैं। सर्व होता, दानी आपकी दया एवं आश्रय से यज्ञ दानादि करते हैं॥ (अथ० १७।१।१८)

सारः—परमेश्वर का नाम इन्द्र (११५) महेश्वर (महेन्द्र) (१३३) लोक (लोकृ दर्शने यः लोकते, लोक्यते वा सो लोकः, यल्लोक्यते तल्लोकम् जो देखे, देखा जावे वह लोक आत्मा परमात्मा एवं प्रत्येक जड़ पदार्थ) (१६०) प्रजापति (१६४) है॥ सर्व द्रष्टा (६२) दृश्य (६१) दर्शनीय (६०) दर्शक [५६]॥ [अथ० १७।१।१८]

(११०) "सदसस्पतिमद्भुतम् प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिंमेधा मयासिषꣳस्वाहा॥ (य० ३२।१३)।

भाषार्थः—सभा—ज्ञान—न्याय—दण्ड=पति आश्चर्य युत गुण कर्म स्वभाव वाले अनुपम, जीवों के अत्यन्त कमनीय वा प्रार्थनीय प्रसन्नता स्वरूप, प्रेम शिक्षक, कामना पूरक एवं इच्छा निवारक उत्तमोत्तम भोग संसार सुखद मनुष्यादि एवं मोक्षानन्द दाता मेधा स्वरूप, मेधा दाता परमात्मा को मैं सत्य वाणि से प्राप्त होऊं॥ (य० ३२।१३)

भावार्थः—परमेश्वर का उपदेश है कि ईश्वर के उक्त गुण कर्म स्वाभावों को मन वचन कर्म की एकता रूप सत्यता वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा (ब्रह्म बोधनी सन्ध्या में बतायें) यौगिक ढङ्ग से धारण करो। (उक्त सन्ध्या में लेखक ने आरम्भियों के लिये अति उत्तमा विधि दी है)।

सारः—परमेश्वर न्यायी (११४) दण्डदाता (१०३) आश्चर्य स्वरूप (१६१) अनूपम (३२) प्रार्थनीय [७६] सत्य काम [६०] कामना निवारक (३६) प्रसन्नता स्वरूप [३६] प्रेम शिक्षक (४०) इष्ट प्रपाक [८८] याचना पूरक [८१] परमेष्ट [८६, ८०] मेधा स्वरूप मेधावी प्रियकर [१६२, १६३] मेधादाता [१६३] लोक सुख एवं मुख्यानन्द प्रद [१११+११२]*(य० ३२। १३)

[१११] "प्रजा पतिश्चरति गर्भे अन्तर जायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ (य० ३१।१८)

भाषार्थः—हे जिज्ञासु जीवों! जो अनुत्पन्न स्वरूप [अजन्मा] प्रजा [उत्पन्न वा प्रकाशित जगत्] रक्षक जगदीश्वर गर्भस्थ जीवात्मा वा गर्भ सदृश देह के अन्तर गुप्त जीवात्माओं में व्यापक है और नाना विधि प्रेरणादि से प्रकाशित होता है। उस

अन्तर्यामी आत्मव्यापी ओ३म् के स्वरूप को योगी आत्मा सब ओर से प्रत्यक्ष देखते हैं। उसमें ही सर्व लोक लोकान्तर ठहरे हुए हैं ॥ (य० ३१।१६)

भावार्थः—अत्यन्त पतला (देखो प्रमाण ६) होने से आत्म व्यापी है। अत्यन्त महान् एवं अखण्ड होने से अजन्मा एवं बन्धनोत्तर वर्त्ती (बन्धन से परे रहने वाला) है। ईश्वर की प्रेरणा संकेत एवं शब्द मय आदि अनेक प्रकार की, तथा जगत् रचना उस जगदीश्वर की प्रसिद्धि का विवेकशियों के लिये अति सुगम एवं ग्राह्य साधन हैं। उस दर्शनीय स्वतः प्रत्यक्ष प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर पदार्थ को परम वैरागी वेदज्ञ योगी आत्मा स्वयं (अकरण) देखते हैं। अवेदज्ञ अब्राह्मण अयोगी विषयी अनात्मज्ञ आत्मचक्षु होनों के लिये "तद्दूरेतद्वन्तिके" वाली युक्ति अथवा "नायमात्माबलहीनेन लभ्यः" की शिक्षा चरितार्थ हो रही है ॥ (य० ३१ । १६]

सारः—परमेश्वर अन्तर्यामी [२४] आत्मव्यापी [१७३] अनुत्पन्न अतः अनवतारी [१३७×५४] दृश्य प्रत्यक्ष [५७+६१] सर्वाधार [३] है ॥ [य० ३१।१६]

(११२)---त्रीणि पदानिचक्रमे विष्णु गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन् ॥ (य०३४।४३)

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवो ! अजर अमर एवं अविनाशी होने से सर्वतः सर्वथा अहिंस्य [हिंसा के अयोग्य] निःस्वार्थी

न्यायी एवं सर्वज्ञ होने से सर्वथा अहिंसक सब रक्षक सब चलने न चलने वाले जड़ चेतन पदार्थों में निरवयव होने से निरन्तर अभि व्यापक सर्व व्याप्त परमेश्वर जगद्रचना आदि धर्मों एवं धारणीय सर्व कारणों आदि का धारण करता हुआ। इस कारण समूह से तीन प्रकार की जानने एवं प्राप्त करने योग्य कारण सूक्ष्म स्थूल तथा द्यु पृथिवी अन्तरिक्ष का विधान करके तीनों का उल्लङ्घन करता है ॥ [य०३४।४३]

भावार्थः—परमेश्वर सर्व व्यापक सर्वाधार एवं नित्य एक रस होने से जगत् के सब कारणों और जीवों का धारण करता है। जगत् रच कर सर्व कार्य पदार्थों को भी धारित करता है। अत्यन्त महान् होने से सर्व कार्य और कारण जगत् से नित्य बाहर भी रहता है। एवं सब कारण सूक्ष्म और स्थूल और स्थूल जगत् का उल्लङ्घन [अति क्रमण=बाहर निकला रहना] करता है ॥य०३४।४३]

सारः—परमेश्वर अहिंस्य [१००] अहिंसक [दयालु × ११६] सर्वव्यापक [१] सर्वरक्षक [१७] सर्वाधार [३] अनवतारी [५४] त्रिप्रकार जगन्निर्माण एवं निर्धारण करने वाला [१७४] आत्मव्यापी [१७३] तीन देहों से पार निकला हुआ मुक्त × [१७२ सर्वव्याप्त [६] है ॥ [य०३४।४३]

(११३)---"एषःप्रकोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य

२३ १८ १६ ६ १० ४ १३ २ ११
वज्रो वपुषो वपुष्टरः । अभीमृतस्य सुदुघा घृतश्चु-
६ १२ १ ११ ३ ७ ८ ५ १४
तो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनः ॥(ऋ०८।७७।१)

भाषार्थः—जिस प्रकार सम्पूर्ण तृप्ति का साधन दुग्ध अति सुगमता से पिवाने वाली गौयें वा मातायें वाश्रों [बछड़ों] वा बच्चों को मुख में पिवाती हैं ऐसे ही सर्व सत्य विद्याओं का मूल वेद उपदेश, समस्त ऐहिक आमुष्मिक [लोक मोक्ष] सुखों का साधन महर्षियों की बुद्धि [ज्ञान शक्ति] में साक्षात् अकरण श्रवणीय शब्द मय वेद वाणियों द्वारा प्राप्त होता है। यह वेदोपदेशक आनन्द स्वरूप सर्व बोजों का आदि बोज एवं सर्वोत्तम बोने वाला साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष होकर बुद्धिस्थ आत्मा को स्वाधिकृत वेद का उपदेश करता है और वह वेद इस संसार के बोने वा रचने हारे जगदीश्वर का वज्र नाम न्याय नियम एवं दण्ड साधन है ॥ [ऋ०८।७७।१]

भावार्थः—जिस भान्ति विना पात्र बच्चों को माता स्तन मुखमें देकर दूध पिवाती हैं। इसी प्रकार आत्मव्यापी वाचस्पति अपनी भाषण शक्ति से [देखो "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो पूर्व गत मात्र] आत्मा की ज्ञान एवं श्रवण शक्ति द्वारा प्रथमोत्पन्न चार महर्षियों को चारों वेद, जैसे अब पुस्तकों में उपस्थित हैं, सस्वर अर्थ सहित सृष्टि की आदि में पढ़ाता है। देखो "यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचा सामयजुर्मही" [अथर्व वेद १०।७।१४, वा

विश्व व्यापक वैदिक नियम १ नियम।२ मं०] लोक मोक्ष सुख विषय में विश्व० नियम ३ देखें ॥ [ऋ०८।७७।१]

सारः—परमेश्वर वेद उपदेशक अध्यापक [२७] आनन्द स्वरूप [४१] वेदवक्ता [१४४] सर्वोत्तम वक्ता [२०२] शासन शास्त्र वेद प्रकाशक [२०३] ॥ [ऋ०८।७७।१]

१ २ ३ ५ ४
[११४]---अग्निनारयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे
६ ७
यशसं वीरवत्तमम् ॥ [ऋ०१।१।३]

भाषार्थः—हे मनुष्य जोवो! ज्ञान एवं प्रकाश स्वरूप सर्व ज्ञापक, प्रकाशक ऐश्वर्य प्रद सर्वेश्वर एवं ज्ञान प्रकाश तथा ऐश्वर्य साधन भौतिक अग्नि पदार्थ से वह ऐश्वर्य [विद्या, अनेक बल, मनुष्य पशु, धनधान्य आदि] प्राप्त हो सकता है जो प्रति दिन विविध पुष्टि कारक सर्वोत्तम यश कीर्त्ति शोभा वर्धक और सर्वोपरि विद्वत्ता एवं वीरता युत है ॥ [ऋ०१।१।३]

भावार्थः—चेतन अग्नि नाम ईश्वर की उपासना और जड़ अग्नि स्थूल भूत के प्रयोग से ऐसा ऐश्वर्य मिल सकता है जिससे सर्व अभीष्ट सुख प्राप्त हो सकें ॥ [ऋ०१।१।३]

सारः—ईश्वर सर्व ऐश्वर्य दाता (७१+११३) सर्व पोषक (१३३/४) यश स्वरूप (३४) यशप्रद (३१) शोभा स्वरूप (३१) शोभा दाता (३३) (ऋ०१।१।३।)

८ १ २ ७ ३ ६
(११५)—स्तुष्ट वर्ष्मन् पुरुवर्ष्मानं समृम्बाणमिन

ममाग्रमात्मानम् । आदर्शति शवसा भूर्योजाः
प्रसक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ (अथ०५।२।७)

भाषार्थः—हे विद्या ऐश्वर्य वान् पुरुष ! तू अनन्त वर्ती, अनन्त प्रकाश सर्व यथार्थ सत्य वक्ताओं में सर्वोत्तम त्रिकाल एक रस वेद वक्ता महा प्रभू की यथावत् स्तुति कर वह अनन्त बली अपनी दर्शन शक्ति से सब ओर से साक्षात् सब को देखता देखा जाता एवं सब को दिखाता है। और सर्व फैले हुए कार्य जगत के नापने वाले आकाश को निरन्तर व्यापता है ॥ (अथ०५।२।७)

भावार्थः—सर्वेश्वर सर्व व्यापक, सर्वज्ञ सर्वाधार होने से सब को ऐश्वर्य, प्राप्ति को शिक्षा और साधनादि एवं यथा कर्म ऐश्वर्य देने से अत्यन्त स्तुति के योग्य है। त्रिकाल एक रस ज्ञाता और सर्वथा निर्भय होने से सर्वोत्तम सत्य एवं यथार्थ वक्ता है। प्रकाश स्वरूप, स्वयम्प्रकाश सर्व प्रकाशक होने से सब जीवात्माओं को तथा सब जगत् को नित्य अकरण देखता, सब जीवात्माओं को साक्षात् दर्शन देता है और अन्य वस्तुवें उनको दर्शाता है। अत्यन्त महान् होने से आकाश से महत्तम है ॥ (ज्यायां पृथिव्याः ज्यायाँ अकाशात्" शतपथ ") ॥ (अथ० ५।२।७)

सारः—परमेश्वर, अनन्त बली (१४०) सर्व समवर्त्ती (१८६) सर्व प्रकाशक (६३) प्रकाश स्वरूप (६१) आप्तों में सर्वोपरि आप्त (१७६) द्रष्टा, दर्शक, दर्शनीय (५६।६०।६२) अकरण सर्व दर्शक (५८) जगदति व्यापक (१७२) (अथ०५।२।७)

(११६)—"इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कै र्विदद्वसुर्दयमानो विशंविशम् । ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरि दात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ (ऋ०३।३४।१)

भाषार्थः—हे धार्मिक रक्षक दुष्ट नाशक ऐश्वर्य दाता जगदीश्वर ! आप, सर्वधन ऐश्वर्य से सम्पन्न, प्रकृति के प्रेरक, देने योग्य को देने वाले पर दयालु एवं शरीर, स्वभाव, चरित्र एवं यश को उन्नत करने हारे, अनेक एवं बहु दानों के दाता शत्रु नगरों वा शरीरों को तोड़ने, बिगाड़ने वाले हैं मनुष्य जीवन की उभय सीमा ब्रह्मचर्य और संन्यास के अन्तर विद्या विनय एवं धर्म अर्थ काम और मोक्ष से अच्छे प्रकार पूर्ण कर (भर) दीजिये क्योंकि आप दोनों ब्रह्माण्डार्धों को स्वस्वरूप से पूरण कर रहे हैं और जो नष्ट भ्रष्ट हो रहे वा औरों को कर रहे हैं उनको शरीरों से विधिवत् कर्म फल भुगाकर पार कीजिये।

भावार्थः—परमेश्वर निष्पक्ष होने से प्रत्येक जीव को कर्मानुसार फल देता है। जड़ प्रकृति से विधिवत् जगत् सृष्ट कर सब का अधिष्ठाता है। स्वयं सर्वथा पूर्ण, जीवों की वृद्धि करने हारा जो स्वयं अपने एवं औरों के शत्रु अर्थात् अपनी

शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक अवनति, वा अन्यों की तीनों वा किसी एक अवनति के करने वाले जीवात्मा हैं उनके नगरों घरों एवं शरीरों को दण्ड रूप नष्ट करके पाप करने से बचाने वाला और पुरुषार्थी धार्मिक उन्नति शीलों को चारों धर्मादि पदार्थ युक्त करने हारा। जिस प्रकार सब जगत् दो अर्द्ध गोलों में सीमित (घिरा हुआ) है ऐसे ब्रह्मचर्य और संन्यास से मनुष्य जीवन परिमित है ॥ (ऋ०३।३४।१)

सारः—जगदीश्वर न्यायी, जड ब्रह्म का स्वामी (७१) स्वयं सर्वथा पूर्ण (११८) अन्यों की वृद्धि कर्त्ता (११६) दुष्ट-घातक ताड़क-सुधारक (१०३-१०४) उन्नति इच्छुओं को चारों पदार्थ दाता, (१२३,४) अत्यन्त दयालु (११६) अवनति विरोधी अनवतारी (५४+$\frac{५४}{६}$) (ऋ० ३।३४।१)

[११७] "नतं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशाश्चरन्ति ॥ (य० १७।३१)

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवों! अज्ञानी जीव धूमाकार कुहर रूपी अविद्या से सत ओर से ढके हुए सत्यानृत वादानुवाद में रत प्राणों के पालने वाले और मौखिक आय व्यय रूप खण्डन मण्डन करते हुए विचरते हैं; वे उस जगत्कर्ता जगदीश्वर को नहीं जानते जिसने यह सृष्टि रची है। वह तुम से एवं इस जड़

कारण कार्य जगत् से भिन्न एवं विलक्षण तुम आत्माओं के अन्तर है ॥

भावार्थः—जो आत्मा चेतन ब्रह्म को नहीं जानते वे न आत्म बोध पा सकते और नहीं मुक्त हो सकते हैं। आत्मोन्नति से दूर संसार भँमर में पड़े रहते हैं। आचार हीन केवल मौखिक मत रखते हैं। कभी अविद्या वश आप को शरीर कहने एवं मानते हैं कभी आत्मा को बोलने वाला (अहं=जीवात्मा), और आप को मोटा पतला आदि भी कहते हैं। कभी वक्ता ब्रह्म ही समझते हैं और आप को न कुछ आदि बताते हैं ॥ (य० १७।३१) '(अह्' भाषणे, ऊरौ, आख्याने, मनने, प्रकाशे, व्याप्तौ, रचनेषु+अच्=अह ॥ ततो अहं=वक्तादि]

सारः—परमेश्वर सर्व अन्तर्यामी (२४) जगत् कर्त्ता (८३) है ॥ (य० १७।३१)

[११८] "ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।,, (ऋ० १०।१९०।१)

भाषार्थः—अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य स्वरूप जगत्कर्त्ता परमेश्वर से प्रकृति, प्रकृति से रचा हुआ जगत् और सत्य वेद (ज्ञान) मन्त्र समूह रूप में साक्षात् (अकरण) महर्षियों को यथा विधि प्रकाशित हुए ॥ (ऋ० १०।१९०।१)

भवार्थः—जगत् रचने से उसके कारण प्रकृति का ज्ञान प्राप्त होता है। चारों वेदों को, जो सर्वज्ञ ब्रह्म में नित्य एक रस

रहते हैं, अन्तर्यामी रूप से आत्मव्यापी ब्रह्म महर्षि आत्माओं को सृष्टि के आरम्भ में पढ़ाता है। वह अनन्त ज्ञानी, प्रकाश स्वरूप, अत्यन्त समर्थ, सामर्थ्य दाता और सर्व दाहक एवं सहिष्णुता स्वरूप सहन प्रद है॥

सारः—ईश्वर अनन्त ज्ञानी (२२) एवं प्रकाश स्वरूप (६१) सर्व सामर्थ्य दाता, (७६) अत्यन्त समर्थ, (७७) सर्वदाहक, (१२८) सहिष्णु, सहिष्णुता दाता (२०४-५) है॥ (ऋ० १०।१६०।१)

[११८] "उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्॥
देवन्देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् (य० २०।२१)

भाषार्थ—अविद्या एवं अन्धकार हीन अथवा तम रूप प्रकृति से सर्वथा अन्य, ज्ञान तथा प्रकाश स्वरूप नित्य बन्धन से उत्तर औरों के उतारने हारे सर्व विद्वानों, प्रकाशकों के दिव्य गुण दाता सर्वोत्तम देव, सर्वोपरि स्वतः प्रकाश अन्तर्यामी प्रकाश स्वरूप सर्व प्रकाशक एवं सूर्य आकर्षक परमेश्वर को हम उपासक दर्शनाभ्यास करते हुए साक्षात् प्राप्त करें॥ (य० २०।२१)

भावार्थः—परमेश्वर सर्वज्ञ तथा प्रकाश स्वरूप होने से अल्पज्ञ की भांति माया (प्रकृत) पर प्रकाश स्वरूप (जो नित्य एक रस व्याप्त एवं सर्वथा प्रत्यक्ष कृता है) मोहित नहीं हो सकता और न अनन्त जगदीश्वर तुच्छ स्वरूप तामसी माया से आवर्त्त (घिरा वा ढका) हो सकता है। सर्व व्यापक अनन्त होने

से नित्य कारण कार्य जगत् से स्वयं पार और जीवों को भी पार करने वाला है। मुमुक्षु योगी उसको साक्षात् दर्शन करते हुए, पाते हैं, विषय उन्मत्त अयोगी उसको स्वयं माया (स्त्री) पर अल्पज्ञ अविवेकी संन्यासी सम आसक्त होने वाला कल्पित करके घोर तम पूर्ण बन्धन को सिद्ध करते हैं॥ (य०२०।२१)

सारः—ईश्वर प्रकाश एवं ज्ञान स्वरूप (६१) नित्य अविद्या रहित (२३) सब से सूक्ष्म (११) एवं बन्धन से उत्तर (१२२) सर्वोत्तारक (१२३) मुक्तिदाता (१२४) अत्यन्त उन्नत (१२०) एवं माया उसके प्रति (अपेक्षा) तम और वह प्रकाश स्वरूप उसका प्रकाशक है॥ (य०२०।२१)

(१२०)---अहमस्मि प्रथमजाऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो
अमृतस्य नाम। यो मा ददाति सः इदेव मावदह
मन्नमन्तमदन्तमद्मि॥ (स०६।१।८)

भाषार्थः—परमात्मा उपदेश करते हैं "मैं जीवात्माओं से प्रथम प्रसिद्ध होता हूं, और सत्य मोक्षानन्द एवं सत्य वेद तथा मुक्तानन्द को टपकाने (गिराने) वाला हूं, जो पुरुष मेरे ज्ञान का दान करता है, वह ही ऐसे प्राणियों एवं मेरी रक्षा करता है जो आत्म परमात्म ज्ञान रूपी आत्म भोजन को अन्यों को न देकर आप ही खाते हैं उनको मैं आत्म भोजन को उपज भूमि (भोजनदाता) खाता हूं।

भावार्थः—जो ब्रह्म से आत्म परमात्मादि ज्ञान रूपी आत्म भोजन को प्राप्त करके प्रत्येक अधिकारी को शिक्षित करता है, वह ही अपना एवं अन्यों का सन्मित्र है। आप मुमुक्षु बन के अन्य जिज्ञासुओं को मुक्ति साधन सम्पन्न करता है क्योंकि प्रचार से विज्ञान की, उन्नति, पूर्त्ति एवं रक्षा होती है। और जो स्वयं जानकर गुप्त रखना चाहता है, उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है और इस भान्ति वह स्वयं नाश को प्राप्त होता है। जो गति धनादि के अदानी कृपण की होती है वह ही विद्या कृपण की निश्चिता है ॥ (सा०६।१।६)

सारः—परमेश्वर सर्व अदानी भक्षक (१३२) मुक्ति दाता १२४) है ॥ सा०६।१।६)

१२१—"यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतो, स्वप्नेन सुकृतः पुरायापुः। स्वमदसि परमेण बन्धुना तप्य मानस्य मनसोऽधिजज्ञिषे। (अथ०१८।५६।५)

भाषार्थः—दुष्कर्मी जिस परमेश्वर के क्रूर (निर्दय) कर्म को भोगते हैं। आलस्य वा अविवेक त्याग से सुकर्मी पवित्र जीवन सेवते हैं। और सुख का परम (अत्यन्त) पूज्य भ्राता परमेश्वर के संग अनुभव करते हैं। और योगाभ्यास रूप तप करते हुए आत्मा (की बुद्धि में ज्ञान एवं दर्शन शक्ति से ईश्वर प्रत्यक्ष होता है॥ (अथ० १६।५६।५)

भावार्थः—पुण्यात्मा योगाभ्यास करते हुए संसार सुख पा कर ओ३म् के प्रत्यक्ष से मुक्ति में उसी के संग सहवास करते हुए मोक्षानन्द अनुभव करते हैं॥

सारः—ईश्वर पापियों को नाना कष्ट एवं आपत्ति में डालता है (१२७) धार्मिकों को संसार सुख के पश्चात् मुक्ति आनन्द देता हैं॥ (अथ० १६।५६।५)

१२२—"यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्रयुनक्ष धीरः। एकाकिना सरथं यासि विद्वान् स्वयं मिमानो असुरस्य योनौ॥ (अथ० १८।५६।१)

भाषार्थः—नियामक (नियम में चलाने वाले) परमेश्वर के दर्शन होने से (लोकृ दर्शने) अथवा यम जीवात्मा शरीर नियामक (देखो-अथ०८।१०।(४)६) के दृश्यमान स्थूल शरीर (शव) से अधिकार पूर्वक (अर्थात् देखे सुने वा भोगे पदार्थवत् वा किये कराए कर्मों क्रियाओं और भोगे भोगों के संस्कार रूप) मनाश्रित होकर (स्वप्न) आया है। अविचलित न डिग मिगाने वाला प्रमाद के संग (प्रमादी) मरण धर्मी अर्थात् आलसी मनुष्यों को विशेष रूप से (हृदयस्थ होकर) काम में लगाता है अर्थात् पूर्व देखे सुने आदि पदार्थों के दर्शनादि में पुनः आसक्त करता है। प्राण रक्षक वा उदर पूरक जीव के

शरीर में वा अन्तःकरण में आलस्य करता हुआ चैतन्य ज्ञानवान् असंगी (सम्बन्धी जनों से व्युक्त) अकेले जीव के सार्थ एकरथ (अन्तःकरण वा कारण शरीर) में चलता है *॥ (अथ०१६।५६।१)

सारः—परमेश्वर सर्व नियामक (७३) है ॥ (अथ०१६। ५६।१)

(१२३)—[१] [२] [३] [४] [५] [६] [७] [८] [९] [१०] [११] [१२] [१३] [१४] [१५] [१६] [१७] [१८] [१९]
"यो अथर्वाणं पितरं देव बन्धुं बृहस्पतिं नमसाव चगच्छात् । त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥ अथ० ४।१।७)

भावार्थः—जो ज्ञानवान् पुरुषार्थी आत्मा, निश्चल एवं सदैव एक समान सत्पिता (रक्षक) देवबन्धु अर्थात् मुक्तों वा उत्तम गुण वाले आत्माओं के भ्राता या मित्र एवं विषयोन्मत्त अज्ञानियों तथा सूर्यादि दिव्य लोकों को नियम में बाधने हारे वेद वाणी तथा सब बड़ों के रक्षक स्वामी को आत्मन रूप योगाभ्यास से प्रत्यक्ष करके सम्बोधित करे "हे जगदीश्वर ! आप सर्व जड़ चेतन पदार्थों के प्रकाशक (उत्पादक हो) यतः आप मेधा स्वरूप सब पदार्थों के एक समान ज्ञाता एवं द्रष्टा अन्त वाले

* इसका विशेषव्याख्यान पंडित क्षेम करण देव कृत अथर्व वेद भाष्य परिशिष्ट में देखें !

एवं स्वयं धारण सामर्थ्य वाले सर्वस्व दाता हैं अतः कभी कुछ भी दम्भ वञ्चना वा ठगी नहीं करते हैं ॥ (अथ०४।१।७)

भावार्थः—परमेश्वर अत्यन्त निष्पक्ष न्यायी है। धार्मिक मुमुक्षुओं एवं मुक्तों के संगमित्र वत् वर्तता है। अन्यों के संग राजा सम सर्व पदार्थों को अपने न्याय नियम में चलाता है। विद्वान् योगी आत्माओं का कर्त्तव्य है कि वे उस सर्व गुण कर्म स्वभाव एवं स्वरूप से एक समान रहने वाले एवं सर्वथा अचल अनवतारी (कूटस्थ) सर्वज्ञ मेधा स्वरूप आदि जगदीश्वर का समाधि में प्रत्यक्ष करके अपनी सर्व शङ्काओं का समाधान प्राप्त करें (अथ०४।१।७)

सारः—परमेश्वर जगन्मित्र विश्व बन्धु (४२) जगत्पिता (१७) सर्व स्वामी अव्यक्ष (७१,७२) सर्वज्ञ (२२) द्रष्टा (६२) विद्या शिक्षा लोक मोक्षानन्द दाता (११०-११२) सामर्थ्य स्वरूप (७७) सामर्थ्य दाता (७६) स्व=भोग्य पदार्थ प्रद (७५) अवञ्चक (१६४) अहिंसक (१०१) (५३) अनवतारी ॥ (अथ० ४।१।७)

१२४—"[१] [२] [३] [४] [५] [६] [७] [८] [९] [१०] [११] [१२] [१३] [१४] [१५] [१६] [१७]
को अस्मिन् रूपमदधात् को महान्तं च नाम च । गातुं को अस्मिन् कः केतु कश्चरित्राणि पूरुषे ॥ [अथ०१०।२।१२]

भावार्थः—प्रजापति (१) (परमेश्वर) इस मनुष्य देह एवं

अन्य देहों में (२) सर्वाङ्गों के चलाने, परीक्षा करने ध्यान से देखने सुनने एवं निश्चय करने की शक्ति सम्पन्न जीवात्मा और साधन स्थानी सूक्ष्म शरीर को (३) धरता (४) है। कर्त्ता ने (५) सामर्थ्य एवं बड़प्पन (६) प्रत्येक को भिन्न रूप (७) और (८) भक्षण साधन एवं शक्ति (९) दी है सृष्टिकर्त्ता ने (१०) इस स्थूल देह में (११) ज्ञान गमन एवं प्राप्ति युत कर्त्ता आत्मा एवं करण (१२) कर्त्ता ने (१३) नेता जीव (१४) और प्रजापति ने (१५) अनेक आचरणों वा शरीर द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को अर्थात् क्रियाओं के कर्त्ता जीव और साधन सूक्ष्म शरीर को (१६) देह में (१७) रखा है ॥ (अथ०१०२।१२)

सारः—परमेश्वर सर्व अङ्गों के चलाने, सर्व क्रियाओं के करने की शक्ति एवं साधन दाता (७०,३०,७६,११७) सर्व प्रवेशक (जीवों को कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देहों में प्रविष्ट करने एवं रखने हारा) (५६) अनुभव शक्ति दाता (१३१) विवेचन (निर्णय) शक्ति दाता ($५\frac{३}{४}$) सामर्थ्य दाता (७५) भिन्न भिन्न रूप कर्त्ता (१६५), भक्षण शक्ति एवं साधन दाता (१३३) सृष्टि कर्त्ता (८३) है ॥ (अथ०१०।२।१२)

[१२५]---"रोहितो द्यावा पृथिवी जजान तत्र तनूतुं परमेष्ठी ततान्। तत्र शिश्रियेऽज एक पा दोऽदृंहद्द्या पृथिवी बलेन ॥ [अथ०१३।१।६]

भाषार्थः—सर्वोन्नत सर्वोन्नयिता जगदुत्पादक ने उजेले अन्धेरे (प्रकाशिता प्रकाशित) लोकों को उत्पन्न (प्रकट) किया उनमें सर्वोत्तम (उच्चतम) परमेश्वर ने सूत्रात्मा वायु एवं विद्युत को फैलाया उनमें वह अजन्मा (बेबना स्वयम्भू) एक अवयव (निरवयव) ईश्वर निरन्तर एक रस व्यापक है। उसने सूर्यादि उजेले अन्धेरे लोकों को अपने बल से दृढ़ किया है ॥ अथ०१३।१।६)

भावार्थः—परमेश्वर त्रिकाल सर्वथा एक रस रहने से सर्वोन्नत और अन्यों को उन्नत करने वाला तृण से सूर्य पर्यन्त जड़ पदार्थों का रचने वाला है। अनादि वा अजन्मा इसी कारण कहा जाता है कि वह एक अवयव (वस्तु) वा निरवयव (अखण्ड) है। वायु औ विद्युत् द्वारा ईश्वर की आकर्षण एवं स्तम्भन (थामने की) शक्ति से सब लोक स्व स्वस्थान में ठहरे हुए हैं। ईश्वर अनन्त होने से जगत् (कार्य और कारण से ऊपर और इस लिये सर्वोच्च है ॥ जैसे वायु आदि द्वारा ईश्वर जगन्नियामक है, ऐसे ही जीवात्माओं को प्राण द्वारा निज इन्द्रियों एवं स्थूल शरीर का नियमन् (अभीष्ट मार्ग में चलाना) करना चाहिये ॥ (अथ० १३।१।६)

सारः—परमेश्वर सर्वोन्नत (सब गुण कर्म स्वभावों एवं सर्व बलों में अनादि काल से परिपूर्ण) (१२०) सब को उन्नति के साधन और शक्ति आदि देने हारा (१२१) जगदुत्पादक (८३) सर्वोत्तम (२७) अजन्मा (१३७) एक अवएव (वस्तु) ($१३\frac{१}{२}$)

सर्वाधार (३) सूत्रात्माओं का सूत्रात्मा (२०६) है ॥ अथ० १३।१।६)

१२६--"य: सुन्वन्तमवति य: पचन्तं य: शंसन्तं य: शशमान मूती । यस्यब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राध: सजनास इन्द्र: ॥ [अथ०२०।३४।१५]

भाषार्थः—पराक्रम एवं पुरुषार्थ स्वरूप जगदीश्वर मथ कर तत्व निकालते हुए को, जो मिलाने (संगठित करने) वाला ईश्वर पक्के करते हुए को, यशस्वी यशप्रद महेश्वर प्रशंसा करते हुए को, उद्योग स्वरूप [और] जो उद्योग स्वरूप ईश्वर उद्योगी को अपनी कृपा से (अवति) पालता है। जिस सर्वज्ञ का वेद, जिस सर्व प्रापक का सोमरस एवं मोक्ष, जिस ऐश्वर्य दाता परमेश्वर की यह कृपा तथा ऐश्वर्य वृद्धि स्वरूप है हे मनुष्य जीवो ! वह ही परमेश्वर है ॥ (अथ०२०।३४।१५)

भावार्थः—जो परमेश्वर आदि गुरु वेद द्वारा मनुष्य जीवों का सर्व सूक्ष्म स्थूल तत्वों का शिक्षक है। तत्व प्रकाश एवं वेद प्रचार करने का उपदेश करता है, जो पुरुषार्थियों (कर्म योगियों) को सोमरस एवं मोक्ष आनन्द प्राप्त करता है। जो उत्तम गुणों, शुभ कर्मों सुदृढ़ (पक्के) वा सर्वथा स्थिर) हो जाते हैं उनको सर्व संसार सुख और तत्व दर्शी जीवों को मुक्तयानन्द देता है, उसका प्रकाशित वेद,

मोक्षानन्द तथा यह जगत् उसकी महत्ता के साक्षी हैं उसी के ध्यान से सब की उन्नति होती है ॥ (अथ०२०।३४।१५)

सारः—परमेश्वर उन्नति स्वरूप सर्वोन्नयिता (१२०-१२१) पराक्रम वा पुरुषार्थ स्वरूप (१६७) संगठित करने वाला (१६६) यशस्वी यशदाता (३४।३१) सर्व पालक (१३३) सर्व पोषक (१३३) ऐश्वर्य दाता (७५) कृपालु (११६) ॥ (अथ० २०।३४।१५)

(१२७) "सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते । तयोर्यत् सत्यं यतरद्ऋजीयस्तदित् सोमोऽवति हान्त्यासत् ॥ (अथ० ८।४।१२)

भाषार्थः—विविदुषु वा जिज्ञासु (जानने की इच्छा करने वाले) आत्मा के लिये अति सुगम विज्ञान (निश्चित शिक्षा) है कि सत्य और असत्य वचन एक दूसरे से नितान्त विरुद्ध हैं; उन दोनों में से जो सत्य अर्थात् मन वचन कर्म तीनों में एक ही है, एवं सर्वथा वेदादि के अनुकूल है और अधिक सीधा (सरल) है शान्ति स्वरूप गूढ़तम मर्म का ज्ञाता तीक्ष्ण मति सर्व प्रेरक सर्वेश्वर उसका ही (अवति) ग्रहण करता है; झूंठ को नष्ट करता है ॥ (अथ० ८।४।१२)

भावार्थः—परमेश्वर पदार्थ स्वयं एकरस (सत्य) गुण कर्म स्वभाव और स्वरूप है इससे एक रस असंग स्वरूप जीवों तथा एक समान सत्ता परमाणुओं एवं सर्व सत्य वक्ताओं को पूर्ण-

तथा सन्मान योग्य स्वीकृत करता है और सब अनित्य, अयथार्थ तथा मिथ्या कारियों वा मृषा वादियों आदि को नष्ट अदृश्य एवं यथायोग्य दुःखित करता है ॥ (अथ० ८।४।१२)

सारः—परमेश्वर सत्यकाम (६०) सत्य स्वीकर्त्ता असत्य तिरस्कर्त्ता ($१\frac{३१}{६}+१\frac{३१}{६}$) मर्मज्ञ (५०) अत्यन्त तीक्ष्णमति तीव्र बुद्धि दाता (५१+५३) सर्व प्रेरक (१४६) ॥ (अथ० ८।४।१२)

(१२८) "[३][१][४] [२][७][५]
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु
[१][२] [६] [८][९] [१०] [१६] [१७] [११]
देवस्य नाम । सनेम महा अदितये पुनर्दात् पित-
[१३] [१५] [१२] [१४]
रञ्च दृशेयं मातरञ्च ॥ (ऋ० १।२४।१२)

भाषार्थः—हम (अमृतानां = अमृताः) मुक्तात्मा सर्वज्ञ स्वतः प्रत्यक्ष सर्व दर्शक वा सर्वोत्पादक अनादि स्वरूप सर्वत्र फैले हुए अद्वितीय सर्वोत्तम स्वरूप सर्व दिव्य गुणों के दाता मुक्तया नन्द वर्षाने वाले जगदीश्वर का (साक्षात् उपसना करते हुए) आनन्द अनुभूत करें। वह सृष्टि कर्त्ता जगदीश्वर हम प्रकृति वियुक्त मुक्तों की महत्स्वरूप प्रकृति (परमाणु पुञ्ज) के अर्थ पिता माता एवं अन्य कुटुम्बियों के दर्शन के लिये फिर लौटाता है ॥ (ऋ० १।२४।१२)

भावार्थः—मोक्षाश्रम अर्थात् कार्य जगत् सब लोक लोकान्तर (प्रथम धाम) कारण जगत् (प्रकृति) द्वितीय (धाम) से परे (ऊपर दूसरी ओर) केवल ब्रह्म स्वरूप (जड़ पदार्थ मात्र हीन) (तीसरे

धाम) में विचारते हुए मुक्त जीव मुक्ति आनन्द का अनुभव करते रहते हैं ब्रह्म लोक (दर्शनानन्द अनुभव) का समय समाप्त होने पर प्रवाह अनादि अविवेक की पुनःजागृति होने से फिर विषय वासना भी जागती है; तब कर्म स्वतन्त्र एवं बन्ध मोक्ष उभय वासी जीवों को जगदीश्वर फिर कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देहों में प्रविष्ट करता है इस प्रकार पुनः प्रकृति को लौटाता है जहां पहले पिता गर्भधारित करता है। पश्चात् माता। इसी कारण मन्त्र में पहले "पिता" पद है फिर माता,, ॥ (ऋ० १।२४।१२) (देखो पूर्व गत् "इदंत एकं पर ऊत एकं···,, "आदहःस्वधामनु···,, "पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति" प्रमाण $\frac{१२}{३४}$ में)।

सारः—परमेश्वर अवतारक अर्थात् जीवों को कर्मानुसार उतारने वाला है ॥*

[१२८] "[१९] [१८] [२०] [१] [३] [२] [४]
आ दक्षिणा सृज्यते शुषन्या सदं वेति
[७] [६] [८] [५] [१२] [१६] [१७]
द्रुहो रक्षसः पाति जागृविः । हरिरोपशं कृणुते
[१३] [१४] [१५] [१०] [९] [११]
नभस्यय उपस्तिरे चम्बोर्ब्रह्म निर्णिजे ॥ [ऋ०
९।७१।१]

*मुक्ति धाम आत्म कर्म (अविवेक) से उतरता है और बन्दी गृह (संसार) में शारीरिक मानसिकादि के कारण।

भाषार्थः—सर्वोत्पादक अनन्त बली परमात्मा स्व व्याप्य एवं जीवों के मज्जन स्थान जगत में भीतर बाहर सब ओर से ओत प्रोत व्यापक और नित्य जागरूक है, पर हानि करने हारे स्वार्थियों को मार कर वा दण्ड देकर (द्रहः) पर अपकार घातक सज्जनों (सत्यादि उत्तम गुणयुत जीवों) को सुरक्षित करता है जगदीश्वर उजेले अन्धेरे लोको लोक वासियों का पोषण शोधन करता है। दुष्टों के सुख एवं सुष्ठों (धार्मिकों) के दुःख तथा दुःख के कारण हरने वा ले लेने वाला परमेश्वर अन्तरिक्ष लोक को परमाणु पुञ्ज से, अथवा अभ्रों (बादलों) को दुग्ध आदि रस एवं सर्वोत्तम जल से आच्छादित करता है और सब को शान्त करता है, सब उपासक अपनी सर्व चातुर्य (बुद्धि शक्ति) एवं सब आत्मशक्तियां तथा सर्वस्व को उसी के लिये सर्वथा समर्पित करते हैं ॥ (ऋ० ६।७१।१)

भावार्थः—नित्य एक रस जागरूक जगदीश्वर दूसरों के घातकों को दण्ड देता है। और अन्यों के उपकर्त्ताओं को सहायता पहुंचाता है। जो अपने एवं अन्यों के हानिकर दुष्टों वा दुर्गुणों का नाश करता है उसकी रक्षा करता है उत्तम द्रव्यों के होम करने से अन्तरिक्ष में उत्तम रसादि उपजा कर वर्षाता है। उसे परमेश्वर को जो कोई अपना सर्वस्व भेंट कर देता है। वह पैहिक सुख भोग कर मोक्षानन्द पाता है ॥

सारः—ईश्वर अनन्त बली (१४०) सदा जागरूक (४८) सर्व व्यापक ओत प्रोत (१-७-८) न्यायी (११४) ॥ (ऋ० ६।७१।१)

प्रमाण सं० १ "स्वाङ् कृतोसि विश्वेभ्यइन्द्रियेभ्यो……" इस मन्त्र का भाष्य देखें परमेश्वर जीवों को स्तुत, उत्तेजित और उत्साहित करता है और स्वयं उत्साहक (१२६) होने से उत्साह स्वरूप (१२५) है ॥ (य० ७।३)

प्रमाण संख्या ६ "बालादेकमणीयस्क…… परिष्वजीयसी देवता सामम प्रिया" में "परिष्वजीयसी" पद का अर्थ बाहर भीतर से आलिङ्गन करने वाला एवं सर्व प्रविष्ट तथा प्रवेशक ईश्वर (६६) है ॥ (अथ० १०।८)

[१३०] "यस्मिन्नु वयानि रण्यन्ति विश्वानि
च श्रवस्यः। अपामवो नसमुद्र ॥ [अथ० २०।४४।२)

भाषार्थः—जिस द्रष्टा, जीवात्माओं के स्तुति योग्य सम्राट (राजाधिराज) नेताओं को वश में रखने हारे सर्वनेता अत्यन्त पूज्य दानी जगदीश्वर में सब सुनने योग्य स्तुति प्रार्थना वचन निश्चय से ऐसे पहुंचते हैं, जैसे समुद्र में जल पहुंचते हैं ॥ (अथ० २०।४४।२)

भावार्थः—परमेश्वर सर्वज्ञ एवं श्रोत्र स्वरूप तथा सर्व भाषाओं का वक्ता एवं श्रोता होने से जो जिस भाषा में स्तुति प्रार्थना करता है उसी में सुनता है ॥ नदी समुद्र का उदाहरण सौगम्यापेक्ष दिया गया है ॥ (अथ० २०।४४।२)

सारः—परमेश्वर सर्व श्रोता (६८) सर्व भाषाभाषा (१४६) सर्वेश्वर (१३४) है ॥ (ऋ० २०।४४।२)

जीव जिसकी उपासना करते हैं उस सुख स्वरूप सर्व दाता ओ३म् की आत्म समर्पण से हम सेवा भक्ति करें ॥ (य० २५।१३)

सारः—परमेश्वर स्तुति योग्य (१६८) अस्तुति के अयोग्य (१६६) अत्यन्त उपास्य (१५८) ॥ (य० २५।१३)

[१३४] "मा चिदन्य द्विशंसत सखायो मा रिषण्यत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ [ऋ० ८।१।१]

भाषार्थः—हे अनादि चेतन अनन्त अखण्ड प्रकाशवान् आदि होने से समान ख्याति (प्रसिद्धि) वाले जीवात्माओं ! तुम सर्वज्ञ ईश्वर के स्तोत्र छोड़ कर अन्यान्य देवों का स्तोत्र (प्रशंसा वाक्य-समूह) कदापि मत उच्चारित करो, अन्यों की स्तुति करना ईश्वर की अस्तुति है । इससे तुम मत हिंसित हो अर्थात् आत्म घात मत करो वा मत हिंसक बनो क्योंकि लोभ वा मोह (अज्ञान) वश अन्य जड़ वा चेतन,अल्पज्ञ संसारी राजाओं आदि की स्तुति उपासना से तुम्हारी महती हानि होगी । तथा अन्य अल्पज्ञ देवों के उपासक हिंसक होते हैं सर्व ऐश्वर्य स्वामी निखिल कामनाओं के वर्षाने हारे जगदीश्वर ही की उपासना करो और ज्ञानात्मक यद्वा द्रव्यात्मक यज्ञ में सब मिलकर वारं वार युक्त स्तुति वाक्यों से ईश्वर की प्रशंसा किया करो ॥ (ऋ० ८।१।१)

भावार्थः—सर्व अन्तर्यामी आत्मव्यापी सर्वेश्वर सर्वस्वदा सर्वज्ञ सर्व व्यापक सर्व समदर्शी सर्व श्रोत्र नित्य एक रस जागृत स्वभाव,अत्यन्त सुलभ जगदीश्वर को छोड़ कर सूर्यादि ईश्वर कृत वा मनुष्य कृत योगी महात्माओं वा राजाओं की मूर्त्तियों अथवा किन्हीं शरीरी दुष्कर्म वश बन्धन में ईश्वर के डाले हुए जीवात्माओं की अथवा मरे हुए माता पिता वा यक्ष गन्धर्व आदि की उपासना से आत्मघात फलतः बन्ध क्लेश विशेष से विशेषतर होता है । जड़ों की उपासना से ज्ञान नाश, भूतादि की स्तुति से भ्रम वृद्धि; और बन्धन में पड़े अल्प देह धारियों की उपासना से कठिनतर बन्धन होता है और नास्तिकता दोष की आपत्ति होती है ॥ (ऋ० ८।१।७१)

सारः—ईश्वर सर्वोत्तम एवं एक मात्र उपास्य (१५८) है ॥ (ऋ० ८।१।१)

१३५"....न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः....." ॥ (य० ३२।३)

भाषार्थः—तीनों कालों में एक रस गुण कर्म स्वभाव स्वभावतः नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्त भी और केवल सर्व धार्मिक कार्य करने से जिसका नाम महद्यश (महत्तमा कीर्ति वाला) एवं केवल धार्मिक कार्य करना ही जिसका नाम स्मरण एवं जिस की भक्ति और सत्कार है उसका कोई प्रतिनिधि स्थानापन्न (मन्त्री उपाधिकारी आदि) नहीं है क्योंकि वह सर्व व्यापक सर्वा-

और सब शक्तिमान नित्य जागरूक एवं एक रस सामर्थ्य स्वरूप है ॥ (य० ३२ । ३)

सारः—परमेश्वर अप्रतिनिधि है (२००) ॥ (य० ३२ । ३)

१३६…"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (य० ३१ । १८)

भाषार्थः—हे मुक्ति साधन जिज्ञासु जीवो ! मैं (मुमुक्षु उपदेशक) इस अपने अन्तर्यामी अर्थात् आत्म व्याप्त (ठहरे हुए आदि) जगदीश्वर को प्रत्यक्षतया जानता हूं । यह जगत् व्यापी अपने सर्वगुण (कर्म स्वभावों से सदा एक रस परिपूर्ण अत्यन्त महान् एवं नित्य मुक्त होने से सर्वतः सर्वधा सर्वोपरि पूज्यतम सूर्य रूप प्रकाश स्वरूप सर्व प्रकाशक और अन्धकार एवं अज्ञान (अविद्या) की छाया से विद्या स्वरूप (एक समान सर्वज्ञ) होने से नितान्त परे (दूर) है । उस दर्शनीय सर्वद्रष्टा स्वतः प्रत्यक्ष नित्य मुक्त मोक्षाश्रमाध्यक्ष मुक्तिदाता को ही (उपासना द्वारा) जीव प्रत्यक्षतया निर्भ्रान्त जान कर प्रकृति का उल्लङ्घन करता है मोक्षानन्द को प्राप्त होता है । अन्य कोई मुक्त वा बद्ध जीवात्मा तथा कोई भी उपर्युक्त स्वरूप सम्पन्न ईश्वर भिन्न पदार्थ मुक्ति के लिये द्वार वा मार्ग नहीं है ॥ (य० ३१।१८)

भावार्थः—परमात्मा अनन्त अखण्ड एक वस्तु है और जगत्

रूपी कारावास ईश्वरापेक्ष अतीव अल्प है इस में सर्वत्र व्यापक होता हुआ इससे सदा बाहर अनन्त और नित्य मुक्त है । सर्व प्रकाशक एवं प्रकाश स्वरूप होने से माया नाम तम से अवत्त (ढका) नहीं कहा जा सकता और नहीं सर्व समदर्शी (एक रस सब को देखने वाला) और विवेक स्वरूप होने से माया रूपी स्त्री पर अल्पज्ञ अविवेकीवत् मोहित ही हो सकता है । अल्पज्ञ विवेकी भी तो मोहित नहीं होते किन्तु विरक्त होकर मोक्ष साधने में लगते हैं । उसी मोक्षाध्यक्ष नित्य मुक्त की उपासना करते हुए उसके साक्षात् दर्शन से मोक्ष प्राप्त होता है । अन्य शरीर धारी राजाओं, योगियों, पूर्वजों की मूर्त्तियों आदि अथवा वास्तविक वा अवास्तविक मुक्तों आदि की मूर्तियों अथवा देहधारी (बद्ध) कल्पित ईश्वरों आदि की उपासन वा उपर्युक्तों से अन्यथा भक्ति आदि से भी कदापि नहीं ॥

सारः—उपर्युक्त परमेश्वर अत्यन्त और एकमात्र उपास्य (१५८) है ॥ (य० ३१ । १८)

जीव ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव आदि स्व स्व प्रकरण में दर्शाने के पश्चात् कुछ मन्त्र सापेक्ष निदर्शनार्थ नीचे लिखे जाते हैं:—

(१३७) "यदिन्द्र पूर्वो अपराय शिक्षन्नयज्ज्यायान्कनीयसो देष्णम् । अमृत इत्पर्यासीत दूरमा चित्र चित्र्यं भरा रयिंनः ॥ [ऋ० ७।२०।७]

भाषार्थः—हे सब से पहले स्वयं प्रसिद्ध सर्वोत्तम एवं प्रथम और अत्यन्त महान् सर्वेश्वर ! यतः आप अपने से सर्व गुणों और शक्तियों आदि में अत्यन्त तुच्छ जीव के लिये वह विद्या जो उस अत्यन्त लघु स्वरूप के लिये देने योग्य है, सिखाते हुए प्राप्त होते हो। और हे अद्भुत गुण कर्म करने वारे नित्य मुक्त परमात्मन् ! आप आत्माओं के भीतर बाहर युक्त रहते हुए भी बालकों से दूर हैं। आप अपने दर्शनाभ्यासियों हम योगियों के लिये वह सब विचित्र स्वरूपस्थ ऐश्वर्य मोक्षानन्द सब ओर से दान कीजिये ॥ (ऋ० ७। २०। ७)

भावार्थः—परमेश्वर स्वतः प्रकाश वेद प्रकाशक जगत्कर्ता होने से प्रथम स्वयं प्रकट होता पुनः अन्यों को प्रसिद्ध करता है, और सर्वथा सर्वोत्तम एवं अत्यन्त महान् है और जीव अत्यन्त छोटा और ब्रह्मापेक्ष अतीव तुच्छ गुणादियुत है। तथापि ब्रह्म पितावत् नित्य जीव के सीखने योग्य विद्या और शिक्षा का दान करता रहता है। उसी से जीवों को मोक्ष सम्बन्धी शिक्षा पाकर मोक्षानन्द पाना चाहिये ॥ (ऋ० ७। २०। ७)

सारः—जीवात्मा अत्यन्त लघु, ब्रह्म अत्यन्त महान् है ॥

१३८—"अव्यचसश्चव्यचसश्च बिलं विष्याऽसि मायया । तास्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृणवामहे ॥ [अथ० १९।६८।१]

भाषार्थः—अव्यापक एक देशी (परिछिन्न) जीवात्मा, सर्व व्यापक सर्व देशी (अनन्त) ब्रह्म, और सापेक्ष सर्व देशी एवं सान्तर सर्व व्यापिका प्रकृति के भेद को बुद्धि (ज्ञान शक्ति) से खोलता हूं। तदनन्तर उन ईश्वर और प्रकृति को जानने के लिये ऋग्वेदादि को श्रद्धा पूर्वक धारित करके हम कर्म करते हैं ॥ (अथ० १९।६८।१)

भावार्थः—परमात्मा एक वस्तु निरवयव अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्त होने से निरन्तर सर्व व्यापक और असीम है; किन्तु प्रकृति परमाणुओं का समूह स्थूलतरा और परिमिता होने से सान्तर व्यापिका और ईश्वर पदार्थ के अल्प देश में पड़ी है। श्रद्धा पूर्वक पूर्ण पुरुषार्थ से वेदाध्ययन करने ही से आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का स्वारूपिक ज्ञान होता है अन्यथा नहीं ॥

सारः—जीव अणु एक देशी, ब्रह्म विभूः सर्व देशी, प्रकृति व्याप्त वस्तु परमाणु पुञ्ज है ॥ (१९।६८।१)

१३९—"अप्सु स्तोमासु बृद्धासु शरीरान्तराऽहितम् । तस्मिंश्छ्वोऽध्यन्तरा तस्माच्छ्वोरध्युच्यते [अथ० ११।८।३४]

भाषार्थः—वाष्प रूप बहते एवं बढ़े हुए परमाणुओं रूपी अन्तरिक्ष में शरीर रखा हुआ है। उस शरीर के भीतर नित्य

गमन शील (चलने के स्वभाव वाला) जीवात्मा अधिष्ठाता है। उस जीवात्मा से ऊपर गति एवं वृद्ध स्वभाव परमात्मा अधिष्ठाता कहा जाता है। (अथ० ११।८।३४)

सारः—जीव प्रजा, कारावासी, अधिष्ठित और ब्रह्म राजा और अधिष्ठाता है॥ (अथ० ११।८।३४)

१४०—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न-न्यो अभिचाकशीति ॥ [ऋ० १।१६४।२०]

भाषार्थः—नित्य चेतन प्रकाशवान् स्वाभाविक ज्ञान क्रिया-युत दो सुन्दर स्वरूप व्याप्य व्यापक भाव से परस्पर मिले हुए एक ही कारण और कार्य जगत् में भीतर बाहर से आश्रय करते वा प्रविष्ट एवं व्यापक हैं। उन दोनों में एक उस वृक्ष के फल को खाने का अभ्यासी होने से खाता है और दूसरा न खाता हुआ सब ओर से देखता है॥ (ऋ० १।१६४।२०)

भावार्थः—चेतनता आदि अनेक गुणों में ब्रह्म और जीव एक सदृश होने से समान ख्याति वाले सखा और व्यापक व्याप्य एवं उपकारक उपकार्य होने से परस्पर मिले तथा स्नेही हैं। कारण प्रकृति वृक्ष का मूल और कार्य जगत् तना (धड़) और शाखादि हैं। जीव अत्यन्त छोटा होने से परमाणु के भी भीतर प्रविष्ट हैं; और ब्रह्म अत्यन्त पतला होने से जीवों,

सर्व परमाणुओं और अन्य सब परमाणुओं से रचे जगत् के अन्तर ओत हैः और सब से महान् अनन्त होने से सब कुछ (जीव, कारण और कार्य जगत्) से प्रोत हैं अर्थात् सब कुछ उसी के अन्तर है। जीव अल्पज्ञ, एक देशी है अतएव अविवेक से जगत् में आता है, शुभाशुभ कर्म करता और इष्ट अनिष्ट फल भोगता है, इसके विरुद्ध परमात्मा सर्वज्ञ, सर्व देशी (सर्व व्यापक) और नित्य विवेक स्वरूप है, वह सर्वथा आप्त काम, अकाम वा निष्काम और इसलिये अभोक्ता, स्वयं साक्षी एवं कर्म फलदाता और नित्य मुक्त स्वभाव है। जीव अपनी अल्प-ज्ञता के कारण प्रवाह अनादि अविवेक वश (जो मुक्ति काल की समाप्ति पर आविर्भूत=प्रकट होता है) प्रकृति को देख कर उस पर मोहित हो जाता है और भोगता है, परन्तु परमेश्वर सदामुक्ति स्वभाव अर्थात् निर्लेप रहता हुआ सर्व कर्मों का निष्पक्ष न्याय से फल देता है। देखने वाले वा द्रष्टा दोनों हैं॥ (ऋ० १।१६४।२०)

सारः—परमात्मा और जीवात्मा दोनों द्रष्टा, चेतन नित्य प्रकाशवान् साधर्म्ययुत, और व्यापक व्याप्य, राजा प्रजा, भोक्ता अभोक्ता, अल्पज्ञ सर्वज्ञ वैधर्म्य सम्पन्न हैं॥ (ऋ० १।१६४।२०)

१४१—"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिर-मर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ [ऋ० १।१६४।३१]

भावार्थः—वर्तीव तीव्रगामी जीव को कंपाता अर्थात् चलने में सहयोग (सहाय) देता हुआ, और जीने की इच्छा करने वाले आत्मा को प्राण युक्त करता हुआ परमेश्वर जीवों के शरीरों के बीच में अचल (कूटस्थ) ठहरा हुआ, अक्रियानन्द कर रहा है, जिस ब्रह्म में स्वरूप से अजन्मे होने से अमर जीवात्मा नाशवान् देह के सङ्ग एक स्थानी अर्थात् ब्रह्माश्रय होते हुए मरण धर्मी जगत् में यथा रुचि अपनी शक्तियों से कर्म करते और यथा कर्म, फल भोगते हैं ॥ (ऋ० १।१६४।३०)

भावार्थः—जो जीव जगत् में रहना चाहते हैं उनको प्राणाधार एवं सर्वाधार होने से कर्म करने में ईश्वर सहाय करता है, जो मुक्त होना चाहते हैं उनको मुक्ति के साधनों से सम्पन्न करता है। सर्व जीव और जगत् उसी के आश्रय में ठहरे हैं। वह अत्यन्त सूक्ष्म पतला होने से छोटी से छोटी वस्तु में भी आते हैं ॥ (ऋ० १।१६४।३०)

सारः—जीव चलने के स्वभाव वाला और ब्रह्म अचल, जीव शास्य ब्रह्म शासक, जीव आधेय और ब्रह्म आधार है ॥ (ऋ० १।१६४।३०)

इसी प्रकार के शतशः मन्त्र जीव ब्रह्म के भेदों के प्रकाशक हैं पर विवेकी जनों को यह ही पर्याप्त हैं !

जीव और ब्रह्म दोनों चेतन, नित्य, स्वरूप से-निराकार, निर्विकार, अजर, अमर, अजन्मे, प्रकाशवान्, द्रष्टा, दर्शक, दर्शनीय, एक अवयव, निरवयव, अखण्ड एवं अखण्ड्य, काला-

पेक्ष अनादि अनन्त आदि होने में एक से हैं; किन्तु जीव (जीवात्मा) अत्यन्त छोटा वस्तु देखो प्रमाण संख्या ६, १७, १३७) और ब्रह्म उसके सर्वथा विपरीत अत्यन्त बड़ा (महान्) पदार्थ (देखो प्रमाण सं० ८८—८६, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, १०५, ११२, ११५, १३६, १३७, १३८) है, अतएव जीव नित्य अल्पज्ञ (अपूर्ण = अधूरा जानने हारा) और ब्रह्म सर्वज्ञ (तीन काल एक रस पूरा ज्ञानी) है।

जीव में केवल अपनी सत्ता (होने) का ज्ञान नित्य क्रियात्मिक रहता है अपने स्वरूप का नहीं, किन्तु ज्ञान ग्रहण शक्ति रहती है। ब्रह्म से निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है; अन्य जीवों से सन्धिग्ध। प्राप्त किये हुए ज्ञान की आवृत्ति होती रहने से स्मृति रहती है वरन विस्मृति हो जाती है। यह ही कारण है जिससे मुक्ति से लौटता है, मन्त्र $\frac{1}{3}$ के भावार्थ में एवं अन्यत्र लिख चुके हैं कि मुक्ति काल की समाप्ति पर जीवका प्रवाह अनादि अविवेक प्रकट हो जाता है क्योंकि मोक्षावस्था में साधनों के अभाव और आनन्द के अनुभव की आशक्ति के कारण आवृत्ति का नितरांत्याग हो जाता है। ब्रह्म में इससे विपरीत सर्व जीवों, परमाणुओं, उनसे रचे जगत् के पदार्थों एवं स्व सम्बन्धी सब प्रकार का ज्ञान वेद नित्य एक रस क्रियात्मक वर्त्तता रहता है। इसी से वह विवेक स्वरूप एवं विवेक दाता है।

जीव अत्यन्त लघुता के कारण अत्यन्त अल्प यत्न है, व्यञ्जनोच्चारण समय स्वर पर दृष्टि नहीं रख सकता और न व्यंजन

और सर्वोच्चरण युगपत् कर सकता है परन्तु ब्रह्म अनन्त स्वरूप और "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो..." होने से सर्व समदर्शी और सर्व सृष्टि प्रलय आदि क्रिया कर्मों का नित्य एक समान कर्त्ता है।

जीव स्वरूप से निराकार (असंग) अर्थात् न जुड़ने वाला है तथापि लघुता के कारण चलने वाला भी है और एक भी परमाणु में रहने से (जो साकार+जुड़ने वाला और जीव से) बहुत ही वृहत(बड़ा) है उसे साकार (सहगृह वद्देहधारी) कहते हैं। तद्विलक्षण परमात्मा अत्यन्त पतला और अनन्त स्वरूप होने से अचल (सर्वथा कूटस्थ) और सर्व जगत् कार्य और कारण में प्रविष्ट (ओत) वा व्यापक होता हुआ भी "अकाय" है [देखो प्रमाण सं० ८८ और १४१]।

स्वरूप से निर्विकारी होकर भी जीव गुण कर्म और स्वभावों से विकारी है अर्थात् इसके गुण कर्म संख्या एवं परिमाण में घटने बढ़ने वाले, अवस्था परिणामी अर्थात् कभी क्रियात्मक (अस्थिर-ऐक्टिव) दशा में और कभी सत्तात्मक (स्थिर=पैसिव) दशा में रहते हैं और स्वभाव शरीर पारवर्तन, योनि विपरिणाम वा विपर्यास अर्थात् उत्तम से निकृष्ट आदि शरीर एवं योनि में जाने से अपितु एक ही शरीर में रहते भोजनादि एवं सङ्ग के परिवर्तन से परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् राजस तामस भोजनादि एवं संग से जीव रजो गुणी, तामसी, उत्तम शरीर से उत्तम स्वभाव एवं चरित्रवान् निकृष्ट में निकृष्ट स्वभाव वाला

और शृगाल में डरने वाला, पुनः वह ही सिंह में निर्भय गरजने हारा हो जाता है। ब्रह्म जैसा स्वरूप से अविकारी है एवमेव गुण कर्म स्वभावों में नित्य अविकारी (सर्वथा एक सा) रहता है अर्थात् परमेश्वर के सर्व गुण गणनापेक्ष असंख्य और परिमाणावेक्ष अनन्त और सदा एक क्रियात्मक (व्यायाम शील=ऐक्टिव=अनालसी) दशा में रहते हैं और ऐसे ही सर्व कर्म असंख्य, अनन्त और एकरस वर्त्तते हैं क्योंकि परमेश्वर सब कालों में एकसा जागता रहता है; और सर्वदा सर्व पदार्थों के प्राप्त रहने से अकाम आप्तकाम निर्लेप, तथा अनन्त सर्वज्ञ और अबद्ध होने से नित्य सर्वथा मुक्त और इस लिये सर्वकाल में एक से अपरिवर्तनीय स्वभाव वाला भी है। (देखो प्रमाण सं० ८८,८९,,९४,९६,९८,९९,१०६,१२९)

जीव स्वस्वरूप से अजन्मे (बेबने), अजर (दुबले, मोटे आदि न होने वाले) और अमर (न नष्ट होने वाले) अवश्य हैं परन्तु अनेक और एक से होने किन्तु भिन्न भिन्न कर्म करने से शरीरों के बिना प्रत्येक जीव की भिन्न प्रसिद्धि लोक में नहीं हो सकती और न कर्म फल प्राप्त करते हैं अत एव शरीरों के प्रवेश से जन्म (जाति=भिन्न २ प्रसिद्धि) वाले, एवं देहों के त्याग से मरण धर्मी कहाते हैं।

सर्व रूपेण तद्भिन्न ब्रह्म जैसा स्वरूप से अमर, अजर और अजन्मादि है ऐसा ही नित्य मुक्त रहने एवं एक रस निष्काम नितरां (पूर्णतया) धार्मिक, परोपकार करने तथा स्वतः प्रकाश

होने से जीवों की भान्ति अवस्था परिणामा भी नहीं है अर्थात् सर्वतः अजन्मा अजर अमर है ॥ (देखें प्र० सं०८८।६१।१०६)

जीव अल्प स्वरूपता एवं मध्यम, प्रकाशत्वत्ता के कारण वाह्य वृत्ति (दृष्टि) रखने पर स्वस्वरूप को भूल कर प्रकृति माया को देखता और अविवेक वश मोहित हो जाता है; इसके स्वरूप को (अन्तर वृत्ति करा के) ब्रह्म प्रकाशित करता (दिखाता) है तब विवेकी बन मुक्ति सिद्धा करता है। ब्रह्म अनन्त स्वरूप सर्वोत्तम स्वतः प्रकाश है अतः वह सर्वत्र एक वृत्ति, सर्व समदर्शी और सर्व दर्शक (देखने एवं दिखाने हारा) विवेक स्वरूप और स्वतः प्रत्यक्ष है। आप तो क्या जड़ तम स्वरूप प्रकृति पर मोहित होवे, अल्पज्ञ जीवों का भी मोह (अज्ञान) नष्ट कर देता है॥ (देखो प्र० सं० २२, ६० ६५,६६ ११६)

जीव स्वरूपतः अजन्मा आदि होने से समय अपेक्ष अनादि अनन्त है पर स्वरूप से परिमित है किन्तु ब्रह्म कालापेक्ष भी आदि अन्त रहित है और स्वरूप वा देश की दृष्टि से भी अपरिमित है। (देखो०, प्र० सं० ६।२७।६०।६१।६३)

यद्यपि देशापेक्ष जीव और ब्रह्म अभिन्न चिपटे हुए (प्र० सं० ६) हैं परन्तु सत्ता एवं (स्वरूपावेक्ष) दोनों अर्थात् सब जीव और ब्रह्म तीनों काल में भिन्न भिन्न और अलग अलग (देखो प्रमाण ६, १५, १०४,११७,१२८,१३८,१३६,१४०।१४१) रहते हैं। अनादि समय से ब्रह्म जीव (१४२) पिता पुत्र ("त्वं हि नः पिता वसो……" (ऋ० ८।६८। ११७) राजा प्रजा (प्र०

सं० १०, ६५, ११७, ७०४) व्यापक व्याप्य (प्र० सं० १११, ११७) अवतारक (उतारने वाला) अवतार (उतारा जाने वाला) (प्रमाण० सं०१२, १३, १२८) सेव्य सेवक उपास्य उपासक आदि भाव से बन्धन एवं मोक्ष में सब जीवात्मा ब्रह्म से सदा सत्ता की दृष्टि से पृथक् उपस्थित रहते हैं (देखो प्रमाण संख्या ६,६,१०,११,१३,१४ १५,१६,२३,२६ २८,५०,५४,८८,१०३,१०४ ११७, १२३,१३८ १४१) न कभी एक थे और नहीं कभी एक हो सकते हैं किन्तु सर्व सादृश्य होते हुए स्वरूप वैषम्य के कारण नित्य भिन्न भिन्न रहते हैं;

प्रमाण सं० १६ में जीवों को ब्रह्म के अंश सदृश कहा है, मुख्य अंश नहीं कहा क्यों कि ब्रह्म अखण्ड वा एक अवयव है है जैसा कि प्रमाण सं० ८८ से १२५ तक अनेक वार प्रदर्शित किया गया है। जब कि एक वस्तु (अवयव) मात्र परमात्मा है तब उसका अंश जीव कहना केवल कतिपय विषयों से सदृशता के कारण बन सकता है अंश अंशी भाव से नहीं, स्वामी सङ्कराचार्य (शंकराचार्य) भी इससे सहमत हैं।

(१४३) देखो ब्रह्म सूत्र शाङ्कर (सांकर) भाष्य पृ०२६७—"अंश इव अंशो नहि निरवयवस्य मुख्यो अंशः सम्भवति" अर्थात् जीव आत्मा परमात्मा के खण्ड के सदृश मात्र है, खण्ड कदापि नहीं क्योंकि एक अवयव (अखण्ड) का खण्ड असम्भव है है शश शृङ्ग एवं आकाश पुष्प वा मनुष्यपुच्छ वत्। अतएव

ब्रह्म से जीव और, जीव से ईश्वर वा ब्रह्म बनना नितान्त असम्भव है* ।

*अङ्कः—यदि कोई महाजन कहें "यो ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति,, इस वाक्य में ब्रह्म जानने हारे का ब्रह्म होजाना कहा है। तो कहना पड़ेगा कि सम्भव और युक्त अर्थ करना ही बुद्धिमत्ता एवं विद्वत्ता होती है अयुक्त तथा असम्भव अर्थ करना नहीं। यदि ज्ञान मात्र से वस्तु परिवर्तन वा भेद होजाता है, तो जड़ पदार्थों को जानकर चेतन जीव जड़ भी होजाता, यह नहीं तो पशु पक्षी को जानकर मनुष्य पशु आदि होजाता, यह भी नहीं तो शूद्रादि को जानकर ब्राह्मणादि वर्णस्थ शूद्रादि नीचे हो जाते। यदि नीचे होना ठीक न करें तो शूद्रादि ही जानने भर से ब्राह्मणादि अथवा ब्राह्मणादि, केवल वनस्थी, संन्यासी वा ऋषि महर्षियों को जानने से वनस्थी, संन्यासी आदि हो जाते। जब ये तथा ऐसे कोई परिवर्तन नहीं होते, तो अल्पज्ञ एक देशी अणु जीव से सर्वज्ञ सर्व देशी विभू ब्रह्म कैसे हो सकता है कदापि नहीं।

यहां ब्रह्म नाम वस्तु समूह का नहीं। न ऊपर वर्णित परमाणु पदार्थ समूह का है। प्रत्युत एक मात्र देश काल एवं वस्तु अपेक्ष अनादि अनन्त स्वयम्भू चेतन एक अवयव (निरवयव) ईश्वर पदार्थ का है।

(१४४) इस कारण जैसा ब्रह्म बनना उक्त मत है, वैसा दूसरा ब्रह्म नहीं बन सकता। क्योंकि "नद्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते" (अथ० १३ २।१६) अर्थात् ब्रह्म केवल एक है। दो तीन और चार आदि ब्रह्म नहीं कहे जा सकते।

चेतन ब्रह्म पदार्थ परमाणु पदार्थ समूह के रूप का नहीं जिसमें कार्य से कारण रूप होकर सब जीव और जगत् के अन्य पदार्थ मिल जावें। यदि

अथ प्रत्यक्षम् पदम्

अब 'प्रत्यक्ष, 'पद, की व्युत्पत्ति एवं पदार्थ की व्याख्या वर्णिता की जाती है, "अक्ष, अक्षू" व्याप्तौ, (व्यापक होना व्याप्त होना वा व्यापन शक्ति देना आदि) इस धातु से [वाहु० कनिन्] प्रत्यय होकर 'अक्षन्' और प्रति+अक्षन् से (अक्षणः

ऐसा होता तो जैसे प्रत्येक परमाणु को परमाणु कहते हैं ऐसे ही प्रत्येक ब्रह्मांश वा ब्रह्म कणु (जीव) को ब्रह्म कहते। किन्तु इस भ्रान्ति ब्रह्म की अनेकता किन्हीं विद्वान् धीमान एवं सज्जनों को इष्टा नहीं।

अब यदि बुद्धि पूर्वक उपर्युक्त वाक्य का अर्थ करें तो सब से पहले 'एवं का अर्थ सदृश का समझा जाता है। तुल्यता वा सदृशता आंशिक ऐक्य होने से कही जाती है। इस प्रकार "यो ब्रह्म भवति" का अर्थ यह होगा जो ब्रह्म (ईश्वर) का यथार्थ ज्ञान रखता है वह ब्रह्म सदृश निष्काम कर्त्ता आदि हो जाता है; अपितु सुषुप्ति वत् समाधि और मोक्ष में ब्रह्म के समान अकरण कर्त्ता होता है जैसा कि "समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपता इस वाक्य में कहा है। ब्रह्म रूपता पद का अर्थ ब्रह्म सदृशता ही है। समाधि आदि में जीव का अकरण कर्म करने वाला होना पहले दिखा चुके हैं। और ब्रह्म अनन्त स्वरूप एवं प्रत्येक पदार्थ में ओत प्रोत होने से सर्वदा अकरण कर्त्ता है ही। क्योंकि साधनों की आवश्यकता अपने स्वरूप से बाहर प्रत्युत दूर की वस्तु की सक्रिया करने में होती है अत्यन्त निकटस्थ पदार्थ के ग्रहण करने वा उसमें अपनी शक्ति प्रकट करने में नहीं होती, जैसे कि जीव को प्राण वा मन आदि करणों के क्रिया वान् करने में अन्य साधन नहीं लेने पड़ते। इनमें स्वयं साक्षात् क्रिया उत्पन्न करता है। फिर सर्व व्यापक

प्ति) प्रत्यक्ष पर सिद्ध होता है. (देखो आपृ को०) अथवा अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षणम् अखण्डं वा अर्थात् जो व्यापक वा अखण्ड हो (उ० को० ३।१७ अश्नुतेव्याप्नोति विषयान् येन तदाक्षि वे नेत्र वा (जिस से विषयों को व्याप्त करै) (उ०३।१५६) अश्नुते

(सब पदार्थों के अन्तर बाहर) रहने वाला ब्रह्म परमात्मा को तो अपने अन्तर पड़े जगत् में ही क्रियायें करनी है। अतएव वह नित्य अकरण कर्त्ता है॥ बृहम रूपता का अर्थ ब्रह्म वत् अनन्त महान् स्वरूप सर्वज्ञ और जगत्कर्त्ता हो जाना असम्भव है॥

द्वितीयार्थ उक्त वाक्य का यह है कि जो [आत्मदर्शी परमात्म दिदृक्षु] सर्व वर्द्धक, पोषक, सर्व प्रकाशक महत्तम सर्वेश्वर को [यथार्थ] जानता है वह [निष्काम भक्ति करता हुआ] उसको प्राप्त करता है। 'भू' धातु प्राप्ति अर्थ में भी आता है (देखो "शाकी भव") उत्तम शक्ति युत सामर्थ्यमाप्नुहि उत्तम शक्ति युत सामर्थ्य को प्राप्त कर (ऋ० १।५१।८), भू० सम्बन्ध] (३) इस अर्थ का भी यहां योग हो सकता है अर्थात् जो उपासक ब्रह्म (परमेश्वर) को यथार्थ जान लेता है। वह सांसारिक सम्बन्धों को तोड़ कर एक ब्रह्म ही से सम्बन्ध जोड़ता है (देखो " तस्यह शतं जाया बभूवुः" ऐतरेय ब्राह्मण) (४) 'भू' उपयोगे, सेवायां वाः —अब उक्त वाक्यार्थ यह होगा कि जो ब्रह्म वित् होता है वह ब्रह्म ही की भक्ति करता और उसी के काम आता है अर्थात् संसारी काम का नहीं रहता। देखो "इदं पादोदकं भविष्यति" शकुन्तला० १।१०) (५) भू, अनुरागे, आराधने, नियोगादिषुः—इन अर्थों के ध्यान से यह अर्थ होगा, जो परमेश्वर पदार्थ का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता है वह योगी आत्मा उसी परमात्मा परम देव का ही अनन्य भक्त अत्यन्त उत्कृष्ट

व्याप्नोतीत्यक्षः अक्षाणि इन्द्रियाणि [नेत्रादयः=कान, आंख, नासिका, घ्राण रसना वाकादि इन्द्रियां] (उ० को० ३।६५) (अश्-विप्, अशेर्णित्, उ० कोश ३।१५६] अक्षिणी, नेत्र अक्षीणि अक्षणा अक्षणः आदि, अव्ययी संयोग में 'अक्षि, वा 'अक्षिणी, से

प्रेमी बन कर उसी को आत्म समर्पण कर देता है, और इस प्रकार वह सर्व, जड़ (अविद्या स्वरूप) कार्य और कारण ब्रह्मों अर्थात् धन, धान्य, ब्रह्माण्डों, जलादि भूतों, प्रकृति, सामान्य ज्ञानों आदि पदार्थों (देखो उक्त ब्रह्मार्थ बोधक, प्रमाण यजु०२०।८८, अथर्व० २०।९१।७, अथ० १३।१।४९। अथ० ६।६।१; अथ० ७।५६।४) से विरक्त एवं सर्वतः प्रत्येक होकर सर्वेश्वर मात्र में अनुरक्त होता है अर्थात् केवल उसी के स्वरूप में रहता उसी के सहवास से उसके आनन्द का अनुभव करता है (देखो "चरण क्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वय ह्यभूत, महाभारत १५, एवं प्रमाण० २६) भू विषय अर्थ आप्टे कोश में देखें॥ ब्रह्म पदार्थ विषयक बाल भ्रमोत्पादक के और भी वाक्य आगे समाहित होते हैं यथा"अहं ब्रह्मास्मि" वाक्य में 'ब्रह्म, पद जगदीश्वर का असम्भव वाचक नहीं है। किन्तु ब्राह्मण (वेदज्ञ एवं ईश्वरज्ञ) तथा बृहमचरी आदि पदार्थों का सम्भव वाचक है अर्थात् "मैं ब्राह्मण वा बृहम चारी हूं। तथैव" अयमात्मा 'बृहम" का अर्थ यह है कि यह अन्तर्यामी (आत्म व्यापी) अत्यन्त महान् है, ओ३म् प्रत्यक्ष कर्त्ता को एकाएकी ओ३म् स्वरूप अणु आत्मा के अन्तर [भीतर] अत्यन्त अल्प ही प्रतीत होती है, तब वह (ओ३म्) उपदेश करता है कि "यह तेरा अन्तर्यामी बृहम है पुनःकुछ काल देखते रहने के पीछे जैसे सूर्य को देखते रहने से सर्वत्र सूर्य ही दिखाई देता है ऐसे जब योगी आत्मा को सब ओर केवल बृहम ही व्यापक

'अक्ष, हो जाता है यथा' समक्ष परोक्ष आदि' फिर प्रति + अक्ष प्रत्यक्ष, एवं, प्रत्यक्षपद, सिद्ध होता है। अक्ष एवं अक्षि के गौण अर्थ जानने का साधन जानने की वस्तु, अखण्ड-प्रकृति (परमाणु समूह) सान्तर व्यापक प्रकृति, महत्त्व से लेकर अग्नि पदार्थ पर्यन्त, क्योंकि यद्यपि प्रकृति ब्रह्मदिन में असमान और ब्रह्मरात्रि में समान रूप से व्यापिका रहती है, परन्तु (ब्र० दि० में) अनेक रूपता और (ब्र० रा० में) अनेकता के कारण केवल सान्तर व्यापिका कही जा सकती है। और अन्य कार्य (महत्तत्वादि) भी सावयव होने से सान्तर व्यापक हि माने जा सकते हैं।

उक्त 'अक्ष, वा अक्षि, पद का मुख्य वाच्य एक वस्तु मात्र निरवयव वा अखण्ड अनादि अनन्त परमात्मा पदार्थ ही कहा एवं निर्भ्रान्ततया माना जा सकता है क्योंकि वह परमाणु अपितु जीवात्माओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म(पतला, फाइन वा लतीफ) होने से सर्व जीवात्माओं, समस्त परमाणुओं तथा उनके सेबने सकल जगत् के पदार्थों के भीतर बीच में और सब के सब और बाहर सर्वत्र सर्वतः सर्वथा सर्वदा निरन्तर एक समान एवं एक रस व्यापक तथा व्याप्त रहता है। [परमेश्वर की अनन्तता और सूक्ष्मता प्रमाण ६० और ६; एवं ११७ आदि से पूर्व प्रत्यक्ष कर दी गई है]। ईश्वर की जीवों में व्यापकता ("य आत्मनि

दिखाई देता है तो वह आप भी कहने लगता है "अयमात्मा बृहम यह अन्तर्यामी अत्यन्त महान् है अल्प नहीं। सूर्य परिछिन्न (परिमित) होने से परिमित दीखता बृहम अपरिमित होनेसे सर्वत्र अपरिमित ही देखा जाता है ॥

तिष्ठन्नात्मन्यन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं यो यमयति स ते अन्तर्यामी आत्मा" (बृहद्दारण्यक उ० काठक शाखा अन्तर्यामी ब्राह्मण) अर्थात् जो आत्मा में, आत्मा के भीतर ठहरा है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर अर्थात् जिसके लिये आत्मा शरीर सदृश स्थूल वस्तु है। जो ब्रह्म जीव को कर्म फल आदि देता है वह हे जीव (स्थूल जड़ अभिमानी) तेरा अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् परमात्मा है, इस आर्ष वचन से जो सर्व बाल वृद्ध भ्रम निवारक है नितरां विस्पष्ट हो रही है ॥

ऐसे ही उपर्युक्त वेदोपदिष्ट ईश्वर के पतलेपन एवं व्यापकत्व के पुनः पुनः प्रतिपादित करने वाले वेद व्याख्यान रूपी आर्ष वचन और भी हैं यथा "अणोरणीयान् महतो महीयान् ॥

(१४५) "आत्मा अस्य जन्तुर्निहितो गुहायां, तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादेन महिमानमात्मनः" (कठ० २ ब० २०) अर्थात् परमात्मा अत्यन्त छोटे जीवात्मा से भी अति पतला और सब कार्य कारण जगत् समूह से अत्यन्त महान् और इस हेतु से इस जीव की गुफा में गुप्त है; उस अचल अनन्त आत्मा (परमात्मा) पदार्थ को योगी जीवात्मा शोक मोहादि से मुक्त होकर उस सर्वाधार जगदीश्वर की कृपा से ही साक्षात् देखा करता है ॥

(१४६) अन्यच्च—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं

मनः । मनसस्तु परा बुद्धि बुद्धिरात्मा महान्परः ॥ "महतः परम-व्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥ (कठ० ३ वल्ली १०, ११)

भाषार्थः—इन्द्रियों से विषय (शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध) सूक्ष्मतर हैं, विषयों से मन, मन से बुद्धि बहुत पतली है । बुद्धि से महत्तत्व महत्तत्व से परमाणु अतीव छोटा वा पतला है, उस परमाणु से जीवात्मा [देखो० प्र० ६] जीवात्मा से अत्यन्त पतला परमात्मा है । उससे विशेष वा वैसा पतला कुछ नहीं है [देखो० प्रमाण० ८६] वह सब की सीमा और मोक्ष धाम है । इन से पुनः परमात्मा का अत्यन्त पतलापन और सर्व व्यापकता सिद्ध होने से कह सकते हैं जगत् के सब जड़ और चेतन पदार्थों की अपेक्षा 'ब्रह्म का नाम 'अक्षि, और सर्व पदार्थ उसको प्रत्यक्ष हैं । और अनन्त होने से सब ही पदार्थों से वह (ब्रह्म) व्याप्त (प्रोत) है, वा सब उस में व्यापक है, अतएव वह ब्रह्म चेतन जीवों से लेकर परमाणु, महत्तत्व, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, मन, ५ (श्रोत्रादि) ज्ञानेन्द्रियों, ५ (हस्तपादादि) कर्मेन्द्रियों, ५ प्राणों, ५ (शब्दादि) सूक्ष्म भूतों, ५ (आकाशादि) स्थूल भूतों एवं सूर्य पृथिवी आदि लोकों पर्यन्त जगत् के सर्व जड़ चेतन पदार्थों की अपेक्षा [उनके प्रति] अक्ष [अक्षि] है वा प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष है । परन्तु जड़ दर्शक नहीं होते, अतः वह केवल जीवात्माओं के लिये साक्षात् प्रत्यक्ष है ॥ अर्थात् सर्व विवेकी आत्मदर्शी स्वयं [अकरण] दर्शक जीवों को समक्ष वा प्रत्यक्ष

हो सकता, होता है [देखो—प्रमाण ६३, ११६, १३१] । तद्विरुद्ध असाक्षात् [सकरण] नेत्रादि से बुद्धि पर्यन्त साधनों द्वारा देखने वालों को निराकार एवं अत्यन्त सूक्ष्मता के कारण परमेश्वर अप्रत्यक्ष, परोक्ष वा अदृश्य है, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हो सकता [देखो १] 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाप्नुवन्पूर्वमर्षत्..." [य० ४०।४]

[४८] (२)—"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा... [कठ० वल्ली ६।१२] [१] बुद्धि, मन, चित्तादि अन्तःकरणों एवं पांचों ज्ञान इन्द्रियों में अनादि काल से अर्थात् उनके कारणों में सदा से व्याप्त हुआ भी उन से नहीं प्राप्त किया जा सकता क्योंकि स्वयं तो वे [अन्तःकरणादि] जड़ हैं इस लिये नहीं पाते, जीव एवं ब्रह्मापेक्ष तमोगुणी [स्वप्रकाश हीन] और जीव से महतर होने से उस [जीव] के आवरक [ढकन] है इस कारण जीव उनके द्वारा प्रत्युत उनके मध्य में आ जाने से ब्रह्म को नहीं देख सकता । (२) न वाक् आदि कर्मेन्द्रियों न चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों नहीं मनादि अन्तःकरणों से ब्रह्म का ग्रहण कर सकते हैं ॥

उपर्युक्त असाक्षात् [सकरण] दर्शकों को केवल कार्य पदार्थ प्रत्यक्ष हो सकते हैं । वे भी इस प्रकार कि स्थूल गोलकों (कान आदि) से स्थूल सूर्य चन्द्र मनुष्य पशु आदि अल्पतम स्थूल भौतिक शरीर पर्यन्त देखे जा सकते हैं, सूक्ष्म काय पदार्थ सूक्ष्म इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों से देखे जाते हैं, यथा

सूक्ष्म पूत सूक्ष्म इन्द्रियों से, सुख दुःख [हृदयस्थ] मन से प्रत्यक्ष [निश्चित] किये जाते हैं, धर्माधर्म, सत्यासत्य, न्यायान्याय शब्दार्थ आदि [ब्रह्म रन्ध्र में शिखा के नीचे स्थित] बुद्धि अन्तः करण से प्रत्यक्ष हुआ करते हैं।

परन्तु निरवयव परमाणु जैसा प्रकृति के प्रकरण में दर्शा चुके हैं केवल आत्मा से साक्षात् देखा जा सकता है, फिर आत्म परमात्म स्वरूप देखने के लिये कौन सा करण बचा, अर्थात् कोई नहीं जो आत्म दर्शन शक्ति से स्वयं ही प्रत्यक्ष हो सकें॥

व्यापक पदार्थ को अक्ष वा अक्षि और व्याप्य (व्याप्त) को अक्ष्य कहते हैं। अत एव ब्रह्म के निरन्तर बाह्यन्तर से सर्व व्यापक होने से उपर्युक्त प्रत्येक पदार्थ अक्ष्य (व्याप्य) और ब्रह्म अक्षि वा व्यापक कहा जावेगा।

पुनः बिना ईश्वर उपर्युक्त प्रत्येक पदार्थ दूसरे के अपेक्षा व्यापक वा व्याप्य (प्रापक वा प्राप्य) कहा जा सकता है। ईश्वर सब पदार्थों के अन्तर होने से वे पदार्थ 'अक्ष्य, कहे जाते हैं' और ईश्वर उन के बाहर, वा वे (पदार्थ) ईश्वर के अन्तर रहने से सब पदार्थ "अक्षाः वा अक्षाणि (व्यापक)' बोले जा सकते हैं, और ईश्वर अक्ष्य (व्याप्त) यतः सर्वेश्वर सब के भीतर भी है और बाहर भी। इस लिये सब पदार्थ अक्षि एवं अक्ष्य नामधारी हैं।

इन जगत् के सर्व पदार्थों में से जिसका नाम अक्षि उत वा

अक्ष्य न होगा। उसी में परमात्मा पदार्थ को व्यापकता नहीं मान सकते। परन्तु परमात्मा पदार्थ निरन्तर सर्व व्यापक है। कोई पदार्थ उससे अप्राप्त वा अव्याप्त नहीं रह सकता। इस तथ्य (सचाई) के भय से जिस पदार्थ का नाम (वाचक) अक्ष्य वा अक्षिना है होगा। उसी की सत्ता मनुष्य के सींग (शृङ्ग) सम हो जावेगी अर्थात् उसका अभाव ऊरी करना पड़ेगा।

उपर्युक्ता व्युत्पत्ति "अश्नुते व्याप्नोति ग्रह्णाति वा विषयान् येन तदक्षि" [अर्थात् जीवात्मा जिन इन्द्रियादि से विषय ग्रहण (प्रत्यक्ष, निश्चित) करें, उनका नाम अक्षि है]" से भी सर्वेन्द्रिय और अन्तः करण पदार्थों का नाम अक्षि सिद्ध हैं (देखो पं० शिवशङ्कर जी कृत छान्दोग्य भाष्य)।

लोक में स्थूल दर्शी गोलकों (हाथ, पाँव आदि) को इन्द्रियां एवं स्थूल बाह्य ढेले को चक्षु कहते हैं। सूक्ष्म दर्शक विद्वान् सूक्ष्म नेत्रेन्द्रिय, दृष्टि (दर्शन शक्ति=आत्म गुण) को चक्षु कहते हैं। यथा "लोचनं नयनं नेत्रं ईक्षणं चक्षु रक्षी दृग् दृष्टि" (अमर कोश मनुष्य वर्ग ६३)। आप्टे संस्कृताङ्गल कोश में अक्षि और चक्षु दोनों शब्द प्रायः समानार्थक माने हैं। एवं वृहद्दारण्यक उपनिषद् (२।३।५) में "योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः" वाक्य है। उपर्युक्त लोचनं=प्रकाशित करने, देखने, दृष्टि (दर्शन शक्ति और नेत्र इन्द्रिय, नेत्रं वा नयन=प्रेरणा करने, ले चलने आदि एवं दृष्टि साधन (नेत्र), ऐसे ही ईक्षण, अक्षी और चक्षु के अर्थ हैं। और दृग्, दृष्टि का अर्थ आत्म दर्शन

शक्ति है ॥ आपने महाशय ने चक्षु के अर्थ, देखना और दर्शन शक्ति भी लिखे हैं । योऽयं = जो यह दक्षिण आंख में पुरुष है ।

वेद में दर्शक एवं दर्शन शक्ति दोनों का नाम "चक्षु" है यथा "वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः ॥ [अथ० १६।६०।१] अर्थात् 'मुख में वाक शक्ति' नसों में प्राण और दोनों आँखों में दर्शन शक्ति रहे वा बढ़े । यहां (१४८) चक्षु पद द्रष्टयर्थ है । "तच्चक्षुर्देवहितं—[य० ३६ । २४] एवं "चक्षुर्मित्रस्य" (१४८) [ऋ० १ । ११५ । १) में चक्षु पद साक्षात् सर्व दर्शक एवं द्रष्टा परमेश्वर पदार्थ के लिये आया है जिस को विश्वतश्चक्षुः [प्र० ६७ में] ऊपर कहा गया है । ऐसे ही अथर्व० १३ । १ । ४५ में परमेश्वर को "एक चक्षु" समदर्शी, कहा है ।

(१४६) एवमेव जीवात्मा का नाम भी 'चक्षु, है यथा "यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं = जो पुरुष शरीरस्थ [जीवात्मा पूजनीय] कर्म का [नेत्र समान] प्रदर्शक, [द्रष्टा] पुष्टि कर्त्ता और [अधिपति] मुख्य अर्थात् ब्रह्मा है ॥ [अथ० १६।५८।५]

[१५०—२] चक्षु, पद वाच्य आत्म दर्शन शक्ति जीवात्मा में उपर्युक्त मन्त्र के अतिरिक्त "दिवस्पदं सूरः पश्यति चक्षसा = योगी आत्मा प्रकाश स्वरूप मोक्षधाम के अधिकरण रूप पद अर्थात् नियामक को आत्म दृष्टि से [साक्षात्] देखता है [ऋ० ६ । १० । ६] ॥ एवं अथ० १४ । १ । ६—१२ । १ । ३३—१२ । ३ २ आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है । 'चक्षु, पद, 'चक्ष दर्शने भाषणे' आदि से बनता है ।

पहिले अक्षि और चक्षु समानार्थक दिखाये जा चुके हैं । और यह कि प्रत्येक जीव सर्व व्यापक ब्रह्म के प्रति व्याप्य वा अक्ष्य हैं और ब्रह्म सर्व जीवों वा उनमें से प्रत्येक के प्रति अक्षि वा अक्ष है । अतएव प्रत्येक विवेकी जीव के लिये ब्रह्म प्रत्यक्ष है ॥

अक्षिणा दर्शनं ज्ञानेन सह वर्त्तमानं यत्तत् साक्षम्—निपातनात् साक्षमस्यास्तीति साक्षी" अर्थात् ज्ञान के संग जो कुछ आत्मा निज दर्शन शक्ति वा, दर्शन शक्ति + बुद्धि करण, वा + दृष्टि + मनेन्द्रिय, अथवा दृष्टि + नेत्रेन्द्रि + नेत्र गोलक [आंख स्थूल] से देखता है उसे साक्ष कहते हैं, और दर्शक [द्रष्टा] आत्मा को साक्षी क्योंकि बुद्धि आदि केवल कारण और कर्ता आत्मा है यदि कोई पागल कुछ देखे वा शव [मृतक] नेत्र के के समक्ष कुछ हो तो उसे साक्ष न कहेंगे । जैसा कि लौकिक वा शारीरिक पागल को स्थूल पदार्थों का भी साक्षी नहीं कहते एवमेव आत्मिक [पारमार्थिक यद्वा वास्तविक पागलों * अर्थात् आत्म स्वरूप अनभिज्ञों [आत्म दर्शन शक्ति अविज्ञों वा न जानने हारों] को आत्मा परमात्मा आदि अति सूक्ष्म [लोकोक्त परोक्ष] पदार्थों का साक्ष वा प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल आत्म स्वरूप विज्ञों को ही होता हैं । "यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः" जिसको मोहादि दोष रहित यति दर्शनाभ्यासी देखा करते हैं ॥

*आत्मिक भ्रान्तों के कई भेद है । एक वे जिनको कोरा आत्मिक पागल कहना चाहिये ।

१५७—"उपावसृजत्मन्या समञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ (अथ० ५।१२।१०)

भाषार्थः—हे दर्शक समभाव से रखने वाले प्रजा स्वामी राजा विद्वान जीवात्मन् ! तू ऋतु ऋतु के खाने एवं देने लेने योग्य रक्षा साधन अन्नादि पदार्थों को अपने आप्त (आत्म शक्ति से) सर्वथा स्वच्छ कराते हुए, मीठा रस एवं घृत, दुग्ध एवं उत्तम जल से स्वादिष्ट बनवा कर विद्वानों को आदर पूर्वक दिया कर ॥ [अथ० ५।१२।१०)

यहाँ जीवात्मा ज्ञानी, दर्शक, शन्ता [शान्त करता] प्रजा स्वामी, दाता, आदाता आदि ।

१५८—उपदिष्ट है । तथैव "वनस्पते अवसृजा रराणः त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु" में उपयुक्त आत्म शक्तियां दिखाई गई हैं । [अथ० ५।२७।११]

१५९-६०—और [अथ० ११।५।१५+१५।१०।२] में साक्षात् आत्मा का स्वामी होना उपदिष्ट है ।

१६१—ऐसे ही "आमेसुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ । तदात्मना प्रजया

पिशाचो वि यातयन्तामगदो यमस्तु ॥ (अथ० ५।२८।६)

भाषार्थः—जिस मांस भक्षक समुदाय ने कच्चे, अर्ध पके, अच्छे पके, बहुत पके मेरे भोजन चुराए वा धोखे से लिये हैं । वे पिशाच लोक [लोग] आत्मा से प्रजा से एवं विविध प्रकार पीड़ा पावें और मैं आत्मा स्वरूप से, निर्भ्रम एवं शरीर से निरोग होऊं ॥ [अथ० ५।२९।६]

१६४—इस मन्त्र में और ऐसे ही [अथ० ५।२९।७,८,९] में साक्षात् आत्मा को विद्या अविद्या आदि सुख दुःखों का अनुभवी और शारीरिक कष्टों का मन द्वारा अनुभविता कहा है ॥ [अ० ५।२९।६,७,८,९]

१६५—"अस्मै मृत्यु प्रधिब्रूहीमं दयस्वोदितो इयमेतु । अरिष्टुः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जासा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ (अथ० ८।२।८)

अर्थात् मनुष्य शरीरस्थ यह आत्मा चले, सौ वर्ष अच्छे सुनता हुआ शरीर में रह कर आत्म शक्ति से देह आदि पालन शक्ति को प्राप्त करे ॥ [अ० ८।२।८] यहाँ आत्मा, श्रोता, प्राप्त कर्त्ता आदि प्रकट है ॥

१६६—"आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥ (अथ० ८।५।३०)

अर्थात् पिता, पुत्र, पौत्र, [पोता वा नाती] पितामह [दादा], पत्नी, जननी, माता शरीरों में वक्ता श्रोता एवं सर्व क्रियाओं का कर्ता जीवात्मा ही है। उनको मैं जीव बुलाता हूं। यहां पुनः सर्व क्रियाओं का अकरण कर्त्ता आत्मा सिद्ध हुआ ॥ [अथ० ६।५।३०]

१६७—"भवत्यात्मना योऽजं पञ्चोदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति ॥

अर्थात् जो आत्मा अजन्म नित्य गति शील पाँच भूतों के सींचने हारे विद्या आदि दान से सर्व प्रकाशक जगदीश्वर के अर्थ आपको अर्पित कर देता है यह आत्म कर्म [१७३] [योगाभ्यास] से उसे साक्षात् अकरण पाता है ॥ [अथ० ६।५।३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६] 'इह पुनरपि आत्मा साक्षात् ईश्वर का प्रापक उपदिष्ट है ॥

१७४—"दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं विभ्रदात्मना मा व्यतिष्ठाः। अतिष्ठाया वर्चसा धान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ (अथ० १९।३३।५)

भावार्थः—हे मनुष्यस्थ जीव! तू शोक मोह के नाशक वृद्धि कारक जगदीश्वर से बलों को प्राप्त तथा उस दुष्ट एवं दोष विध्वंसक ईश्वर को आत्मा में स्थापित करता हुआ मत व्याकुल हो, किन्तु ब्रह्म तेज एवं आत्म बल से औरों से उच्चतर होकर सूर्य के सदृश चारों दिशाओं और उपदिशाओं प्रकाशमान हो ॥ [अथ० १९।३३।५]

इससे सिद्ध है कि जो आत्मा साक्षात् बिना साधनों के परमेश्वर को स्वस्वरूप में स्थापित अर्थात् प्रत्यक्ष करता है जैसा कि ऊपर "अयमात्मा ब्रह्म" के व्याख्यान में प्रदर्शित किया गया है। और फिर उससे आत्म बल प्राप्त कर, शोक मोहादि से विमुक्त होता हुआ सूर्य के तुल्य स्वप्रकाश को सर्वत्र फैलाता है और आप साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष जगदीश्वर के दर्शन किया करता है ॥ (अथ० १९।३३।५)

प्रमाण सं० १११ में भी "तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इस वाक्य का भाष्य 'मर्यादा देवोत्तम ऋषि दयानन्द, "प्रजापतेः स्वरूपं ध्यानवन्तः [अचला संप्रज्ञातयोगिनः] सर्वतः प्रेक्षन्ते" करते हैं जिसकी आर्य भाषा यह है कि उत्पन्न चराचर के रक्षक स्वामी के स्वरूप को ध्यानी योगी [अचल अकरण समाधि

करने वाले सब ओर से प्रत्यक्ष करते हैं। इससे पुनः ईश्वर स्वरूप दर्शनीय और जीव, ब्रह्म दर्शक सिद्ध हुआ।

१७५—"उभादेवा नृचक्षसा होतारा दैव्या हुवे। पवमान इन्द्रो वृषा ॥ (ऋ० ९।५।७)

इस मन्त्र के भाष्य में चिरञ्जीवी पण्डित आर्य मुनि जीव "नृचक्षसा" पद का अर्थ "ईश्वर प्रत्यक्षकारौ" और 'हुवे' का अर्थ 'साक्षात् करोमि' करते हैं और 'देवा' का अर्थ 'ज्ञान योगी और कर्म योगी'। जिनके लिये प्रत्यक्ष करने वाले विशेषण आया है। इससे भी आत्मा दर्शक एवं ईश्वर दृश्य निश्चित होता है ॥ [ऋ० ९।५।७]

१७६—"समर्मृजान आयुभिः प्रयस्वान्प्रयसे हितः। इन्दुरत्यो विचक्षणः ॥ (ऋ० ९।६६।२३)

इस ऋचा के भाष्य में ईश्वर साक्षात्कार मानते हुए भाष्यकार महानुभाव ने यह भावार्थ लिखा है "योगी लोक [लोग] जब परमात्मा का ध्यान करते हैं, तब परमात्मा उन्हें आत्म स्वरूपवत् 'भानु' होता है। इसी अभिप्राय से योग सूत्र में कहा है कि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" समाधि वेला में 'उपासक के स्वरूप में' 'परमात्मा' की स्थिति होती है। यहां "भान" शब्द का अर्थ प्रकाशित और दृष्ट होना है, 'भा, दाप्तौ दर्शने च' से यह पद बना है। [देखो आप्टे कोश]

और 'द्रष्टुः' का अर्थ 'उपासक' किया है सो ठीक है। यहां भाष्यकार महोदय ने उपासक जीव को 'द्रष्टा' माना है और द्रष्टा [देखने वाले] के स्वरूप में परमात्मा की 'स्थिति' दर्शा कर परमात्म प्रत्यक्षत्व भी निश्चित कर दिया है ॥ [ऋ० ९।६६।२३]

इसलिये यह भी लिख देते हैं अब जब कि चारों वेदों, अनेक शास्त्रों के प्रमाणों की प्राचुर्य एवं युक्तियों से जीवात्माओं को अकरण द्रष्टा और ओ३म् पदार्थ स्वरूप के स्वस्वरूप सदृश [सर्वथा विस्पष्ट] आत्म दर्शन शक्ति से प्रत्यक्ष कर्ता अत्यन्त उत्तमतया एवं नितरां निर्भ्रान्त रूप से दिखा चुके हैं; तब जीवात्माओं के अदृष्टृत्व विषयक भावना वा भ्रम का वृक्ष उपर्युक्त प्रमाण सं० १७६ स्थ "द्रष्टु" = "उपासक" पदार्थ से समूल नष्ट हो गया ॥

ईश्वर ने जीवात्मा पदार्थों की दर्शन शक्ति को उन्हें अग्नि, विद्युत् और सूर्य नाम से बारंबार सम्बोधित करके पुनः पुनः सर्व सन्देहातीत दर्शा दिया है। अब सर्व भ्रम सर्वथा नष्ट हो गये।

वि० सं० (१९२) अब रूपान्तर से केवल यह दिखाना रहा है कि वह जीवों की आत्मदर्शन शक्ति नेत्रद्वारा दर्शन से क्या तुलना वा कितना साम्य रखती है। इस लिये पुनः प्रवचन करते हैं कि जब मनुष्य देहस्थ असावधान चेतन आत्मा को साक्षी नहीं कहते और जानते मानते तो जड़ पदार्थों (शरीर के स्थूल

सूक्ष्म अङ्गों वा नेत्रों आदि) में जैसा पहले युक्ति प्रमाणों से विशदतया दर्शा चुके हैं कर्तृत्व एवं द्रष्टृत्व (द्रष्टा पन) कहां से आया। इसलिये जो भी कार्य पदार्थ हम देखते हैं वे सब के सब बीच (मध्य) में इन्द्रियां एवं मन, वा अन्य अन्तःकरणों के आजाने से असाक्षात् (स आवरण) अर्थात् ढक्कनों वा परदों में होकर देखते हैं। साक्षात्, स्वयं वा विना ढके (खुले) रूप से नहीं आलोचित करते।

अतएव जब हम (जीवात्मा) इन्द्रियादि करणों से विना, वा आवरणों से रहित खुले रूप से देखेंगे (जब कि देखने वाले आत्मा और देखने की वस्तुओं के मध्य में कोई आच्छादन [ढक्कन] न होगा) तब ही दर्शन साक्षात् वा वास्तविक स्वतन्त्र कहा जावेगा क्योंकि करण वा साधन का द्रष्टा और द्रष्ट पदार्थ (देखने की वस्तु) में अन्तर वा व्यवधान रहता है। और साक्षात् दर्शन की वेरा में दृष्टि (दर्शन शक्ति) नेत्रापेक्ष इतनी विशेष ज्ञात होती है जिसका अनुमान नहीं होसकता, और तदनुमान नेत्रादि द्वारा दर्शन की अपेक्षा साक्षात् दर्शन भी उतना ही असंख्य गुणा विशेष विस्पष्ट, निर्भ्रम (निश्चित) होगा।

वि०(१६३) अब इस प्रतिज्ञा का प्रदर्शन करते हैं सुनियेः-प्रमाण सं० ६ में "बालाग्रैकमणोयस्कमुतैकं नैव दृश्यते अर्थात् परमाणु पतले से पतले बाल की नोक पृथिवी कणु का ७२० वां भाग, और जीवात्मा परमाणु की अपेक्षा नहीं के तुल्य अर्थात् इतने वा अत्यन्त छोटे कि उनके स्वरूप परिमाण का यथार्थ निश्चय

नहीं होसकता" यह उपदेश है और प्रमाण सं० १७ में जीव का परिमाण सूक्ष्मतम रोम (बाल) की नोक का दश सहस्रवां भाग कल्पित किया है, यह कल्पना मात्र है निश्चित परिमाण की तो वेद से असम्भवता ही उपदिष्टा है।

वि० (१६४) अब विचारिये कि एक परमाणु पदार्थ से जीव पदार्थ कितना छोटा है। जब परमाणु साकार वस्तु का परिमाण निश्चित और जीव निराकार वस्तु अनिश्चय योग्य परिमाण वाला है, तब जीव को परमाणु की अपेक्षा छुटाई अत्यन्त विशेष है और इसलिये एक परमाणु भी जीव के लिये अतीव बड़ा ढक्कन (आवरण) है जिससे सब ओर से ढका जाकर जीव बाह्य दृष्टि रखता हुआ कभी किसी भान्ति ब्रह्म दर्शन नहीं कर सकता क्योंकि सत् नामक परमाणु भी जीव एवं ब्रह्म प्रकाश के प्रति तमस्वरूप ही हैं, देखो प्र० १८३:-"उद्वयन्तमसस्परिस्वः, अन्धकार स्वरूप परमाणु समूह (प्रकृति) से सर्वथा अन्य प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर, इस मन्त्र में 'उत्, नाम प्रकृति, उत्तर, नाम जीव का, और 'उत्तम' विशेषण परमेश्वर 'देव' का माना जाता है। ऐसे मत से सिद्ध होता है कि प्राकृत प्रकाश, जीव प्रकाश की अपेक्षा तामस (काला) और जीव ज्योति ब्रह्म ज्योतिके प्रति राजस (केवल श्वेतता सी) है अर्थात् सूर्यवत् सर्वोत्तम पूर्ण प्रकाश ब्रह्म स्वरूप में है, साधारण अल्प नेत्रादि प्रकाश सदृश दीप्ति जीव में है और जड़ प्रकृति इनके देखते हुए अन्धकार स्वरूप है।

वि० (१६५) अब आपने देख लिया कि जीव एवं ब्रह्म पदार्थ के समक्ष परमाणु पदार्थ अन्धकार मय और एक जीव पदार्थ से एक परमाणु वस्तु इतना बड़ा कि बहुत से जीव पदार्थ आच्छादित (ढके) होजावें, पुनः एक जीव वाच्य वस्तु की तो कथा ही क्या ।

ऐसी दशा में यह दिखाना शेष है कि जिस हृदय में ठहरा हुआ जीव आंख से स्थूल वस्तु देखता है उससे आंख गोलक तक कितने परमाणु होंगे । यहां यह ध्यान करने की बात है कि जब एक रोम की नोक में न्यून से न्यून ७२० परामणु हैं, तो एक हस्त परिमाण (हाथ भर लम्बे) (जो आंख और मनस्थ आत्मा के मध्य में अन्तर है) परमाणु बराबर पतले भी रोम वा धागे में कितने परमाणु होंगे यह गणना असम्भव एवं ये परमाणु रूपी ढक्कन संख्यातीत व असंख्य (गिनती) से बाहर वा न गिनने योग्य) हैं । जब यह असंख्य ढक्कन (परमाणु) न होंगे तो आत्म दृष्टि नेत्रदृष्टि से असंख्य गुणी होगी ।

वि० सं०(१६६) यह भी तो अत्यन्त आश्चर्य पूर्ण आत्म प्रभा दृष्टि का दृश्य है कि इतने आवरक (परदे) होते हुए स्थूल वस्तुओं को देख रहा है । सुख दुःख समान सूक्ष्म वस्तुओं के देखने के लिये इन ऊपर कहे असंख्य ढक्कनों के कारण वाह्य इन्द्रियों से देखने में असमर्थ होने से केवल अन्तर इन्द्रिय (अन्तःकरण) मन का उपयोग करता (मन से देखता) है जब मन रूपी थोड़े ही ढकने रह जाते हैं । पुनः सुख दुःखादि से भी सूक्ष्मतर धर्माधर्म

आदि का विवेचनात्म प्रेक्षण (गहरी दृष्टि से देखना) बुद्धि अन्तःकरण से करके निर्णय करता है जो मन से भी थोड़े परमाणुओं वाली और उससे भी सूक्ष्मतरा एवं मन से (सत् विशिष्ट) बहुतर प्रकाशयुता और न्यून आवरिका (ढकने वाली) है ।

आपने ध्यान किया नेत्रों से मन तक के परमाणु रूपी ढक्कन बाहर छोड़ने पर दर्शन शक्ति अधिक होने से सुखादि मन से देखे जाते (देख कर निश्चित किये जाते हैं) और उससे भी न्यून (थोड़े) आवरक (परदे) रह जाने एवं दर्शन सामर्थ्य और भी विशेषतर होने से बुद्धि करण से सत्यासत्य न्यायान्याय आदि का निर्णयात्मक दर्शन होता है ।

ऐसे ही आलोचन करिये जब अन्तर दृष्टि (वृत्ति) समय वे सब असंख्य आवरण बाहर रह जावेंगे और अकरण द्रष्टा प्रकाश स्वरूप आत्मा स्वयं अव्यवधान (साक्षात्) अत्यन्त निकट से ईश्वर को देखेगा तब आत्म दर्शन शक्ति सर्वथा पूर्ण और नेत्र वा आँख से देखने के ध्यान से इतनी अधिक तीव्र होगी जिसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता । और इस लिये दर्शनीय पदार्थ परमात्मा नेत्र को तुलना से असंख्यात गुणा स्पष्टतर देख पड़ेगा । एवमस्तु ॥ भवत्येवमेव ॥

जीव पद वाच्य का पुनर्निर्देश कर के अब प्रतिज्ञात ओ३म् पद वाच्य जगदीश्वर के स्वरूप का दर्शन विषयक अन्तिम निदर्शन करते हैं:—

जीव-एवं ब्रह्म-स्तुति परक उपर्युक्त मन्त्रों से यह अतीव

निर्भान्ततया दिखा चुके हैं कि ओ३म् पदार्थ सर्व दर्शक, द्रष्टा, अकरण दर्शनीय, दृश्य एवं साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष है ।

इस पुस्तक में लिखे प्रमाण संख्या ५, १०, १४, २२, २६, ६०, ६३, ६५, ६७, १०६, १०६, १११, ११४, ११५, ११६, १२१, १२३, १२८, १३१, १३६, १४०, १४५, १४७, १४८, १४८, १४८, १५३—१५५, १६३, १७५, १७६, से यह विषय सूर्यवत् देदीप्यमान हो रहा है कि परमेश्वर पदार्थ प्रकाश स्वरूप, स्वयम्प्रकाश सर्व प्रकाशक, दर्शनीय, दृश्य, दृशक एवं साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष है, तथापि 'अधिकस्य अधिकम्फलम्, इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए पाठकों के सौगम्यार्थ और भी वेद वचन नीचे प्रविष्ट करते हैं:—

१७७---उत्सूर्यो बृहदर्चीँष्यश्रेत्पुर विश्वाजनिम मानुषाणाम् । समोदिवाददृशे रोचमानः कृत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ (ऋ० ७।६२।१)

भाषार्थः—स्वयम्प्रकाश सर्व प्रकाशक स्वतः प्रत्यक्ष सर्व दर्शी परमात्मा बड़ी से बड़ी ज्योतियों को व्यापक होकर, आश्रय देता है । वह निखिल ब्रह्माण्डों के वासी मनुष्यादि शरीरस्थ जीवों के असंख्य जन्मों को करता हुआ देखा जाता है वा मनुष्यादि असंख्य योनियों की नाना प्रसिद्धियों का निरीक्षक प्रबन्धक एवं अध्यक्ष है ।

एक रस प्रकाश से नित्य स्वतः देदीप्यमान हो रहा है । वह ही यज्ञ रूप सर्वोपरि सत्करणीय है । और इन ब्रह्माण्डों की रचना उसको सर्वोत्तम रचयिता वर्णित कर रही है ॥

सार यह है कि परमेश्वर नित्य एक रस प्रकाश स्वरूप और स्वयं प्रकाश होने से स्वतः प्रत्यक्ष है । सब ज्योतियों में सर्वोत्तम और सब का रचयिता और अध्यक्ष है ॥ (ऋ० ७।६२।१)

१७८---उद्वेति सुभगो विश्वचक्षाः साधारणः सूर्यो मानुषाणाम् । चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देवश्चर्म वयः समविव्यक्तमांसि ॥ (ऋ० ७।६३।१)

जो दिव्य ज्योति स्वरूप परमेश्वर वेद अध्यापक उपदेशक का पथ दर्शक है और जो अज्ञानों को तुच्छ तृणों के समान भले प्रकार नष्ट कर देता है । वह ही सब मनुष्यादि शरीरियों का सामान्य रूप से प्रकाशक सर्व द्रष्टा एवं दृश्य और उत्तम ऐश्वर्य सम्पन्न है । वह परमात्मा देव प्राणायामादि संयमों से (उत् वेति) प्रत्यक्ष होता है ॥ (ऋ० ७।६३।१)

भावः—जगदीश्वर ज्योति स्वरूप सर्वतः सर्वथा सर्वदा दर्शनीय, सर्व पथ दर्शक, सर्व विद्या प्रकाशक अविद्या नाशक विद्या स्वरूप, सर्व द्रष्टा, योग से साक्षात् प्रत्यक्ष होता है ॥ (ऋ० ७।६३।१)

१७९---उद्वेति प्रसविता जनानां महान् केतुर-

८ ९ १० ११ १४ १५
एवः सूर्यस्य । समानं चक्रं पर्यावृत्सन्यदेतशो
१६ १२ १३
बहतिधूर्षु युक्तः ॥ (ऋ० ७।६३।२)

भाषार्थः—वह परमात्मा सब प्राणियों * प्राणाधिष्ठाता वा प्राणधारी जीवों का उत्पादक (शरीरों द्वारा प्रकाशक) सब से बड़ा ध्वजा सम सर्वोपरि विराजमान अन्तरिक्ष तथा सूर्य के समान चक्र को एक परिधि में रखने हारा है। इनकी चालों में युक्त हुई अर्थात् इनकी चालिका जो दिव्य शक्ति असंख्य ब्रह्माण्डों का चालन कर रही है वह सर्वशक्ति स्वरूप परमात्मा संयमी आत्माओं के अन्तर प्रकाशित रूप से प्रत्यक्ष होता है॥ (ऋ० ७।६३।२)

भावः—परमेश्वर सर्वोत्पादक, महत्तम, सर्वोपरि नियामक, सर्व चालक, ब्रह्म रन्ध्रस्थ योगियों को प्रत्यक्ष होता है॥ (ऋ० ७।६३।२)

१८०—"आपश्यति प्रतिपश्यति परापश्यति
८ ९ ११ १२ १० १ ३१ २
पश्यति। दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वन्तद्वेवि प-
१४
श्यति ॥ (अथ० ४।२०।१)

*स्थूल शरीरों को प्राणी कहना ठीक नहीं क्योंकि प्राण शरीरों से सम्बद्ध नहीं होते, वरन जीव के संग न निकल जाया करते। जैसे देही और शरीरी नाम जीवात्मा के हैं ऐसे ही प्राणी भी उसी जीव का वाच्य है।

भाषार्थः—हे अत्यन्त विस्तृत सर्वविस्तारक (सब को विस्तृत करने=फैलाने वाला) दिव्य प्रकाशन शक्ति परमात्मन्! आप ओत प्रोत सर्व व्यापक होने से सब जड और चेतन पदार्थों को अन्तर बाहर से प्रत्यक्ष कर रहे हैं अपने दर्शक आत्मा में प्रत्यक्ष होकर देखते हैं। और आत्म परमात्मानभिज्ञों अर्थात् आप को दूरस्थ समझाने वाले मूर्ख अपासकों (उपासना न करने हारों) को आप दूर से देखते हैं। सब को सामान्यतः देखते हैं उजेले (प्रकाशित) अन्धेरे (तामसी) लोकों, अन्तरिक्ष और मोक्ष सब को अनन्त और सर्वाधार होता हुआ देखता है॥ (अथ० ४। २०। १)

भावार्थः—परमेश्वर सब पदार्थों के अन्तर होने से भीतरसे और बाहर भी होने से बाहर से भी देखाता रहता है। जो उस के दर्शनाभिलाषी आत्मा योगाभ्यास करते हैं उनको साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु जो उसको चतुर्थ, सप्तमाकाश पर वा अन्य किसी स्थान विशेष में उसको अपने से दूरस्थ कल्पित करके उपासना से वञ्चित होते हैं वे उस अन्तर्यामी आत्मव्यापी को सूर्यवत् दूर से देखने वाला मानते हैं। परन्तु यह भ्रम मात्र है वह जगत् के प्रत्येक परमाणु एवं प्रत्येक आत्मा में अचल ठहरा हुआ सब को साक्षात् (विना ओट एवं करण) प्रत्यक्ष कर रहा है और सर्व चेतन विवेकियों के प्रत्यक्ष करने योग्य है। क्योंकि उसका नाम विश्वतश्चक्षु है। (देखो प्र० सं० ६७), (अथ० ४। २०। १)

१८१—सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा
मर्य इव स्वओक्ये ॥ (ऋ० १।८१।१३)

भाषार्थः—हे शान्तानन्द स्वरूप परमात्मन् ! आप हम [अविवेक वश मुक्तिधाम से प्रकृति से] आकर्षित एवं विजित हो जाने पर बन्धन में डाले हुए आत्माओं में इस भांति सर्वतः पुनः २ प्रत्यक्ष (प्रकाशित) हूजिये जिस प्रकार इन्द्रिय स्वामी जीवात्मा विषयों वा गौ आदि पशु अपने चारे को प्रत्यक्षतया प्राप्त करते हैं, अथवा मदनावस्थ अनुरागी जैसे अपने मनोज्ञ कमनीय को उतवा प्राणी अपने निकेतन (आराम स्थान) में साक्षात् प्रवेश करते हैं ॥ (ऋ० १।६१।१३)

भावार्थः— 'हृ' आकर्षणे, विजये बन्धनेषु (आप्टे कोश) इस धातु अर्थ प्रमाण से हृदि पद के उपर्युक्त अर्थ हुए। मर्यादा देव ऋषि दयानन्द, भावार्थ में "आत्मनि प्रकाशितो भवेः" अर्थात् हम आत्माओं में प्रकाशित हूजिये। उपर्युक्त मन्त्रोक्त उदाहरणों से अत्यन्त प्रकर्षतया धूपित (प्रत्यक्ष) हो रहा है कि परमात्म स्वरूप का दर्शन आत्माओं को ऐसा ही अत्यन्त स्पष्ट होता है जैसे इन्द्रियों से विषयों का किरणों को जगत् के पदार्थों का, प्रेमी को अपने प्रिया का तथा प्राणी को अपने गृह (घर) का ॥(ऋ० १।६१।१३)

१८२—सस्तुवासमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम्

सेनं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि।
(ऋ० ३।८।५)

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवो! जैसे वायु दूर देश से विद्वानों के लिये मथे हुए गुप्त अग्नि को प्राप्त होते हुए मनुष्य के समान सब ओर से अच्छे प्रकार प्राप्त कराता है। इस प्रकार सर्व पोषिका जगन्माता परमात्मा में शयन करने वाला विवेकी जीवात्मा, अज्ञानवश दूर पड़े हुए विषयासक्त अविवेकी जीवों से गुप्त हुए उस प्रकाश स्वरूप स्वतः प्रत्यक्ष सर्व द्रष्टा जगदीश्वर को, मन्थन करके गुप्त अग्नि को प्राप्त करते हुए मनुष्य की भान्ति उन अज्ञानियों के लिये योगाभ्यास से सर्वतः साक्षात् प्रत्यक्षतया प्राप्त करता है ॥ (ऋ० ३।६।५)

भावार्थः—जगदीश्वर उपदेश करते हैं कि हे मनुष्य जीवो! तुम जिस भांति अग्नि पदार्थ को [जो अरणियों (लकड़ियों) में गुप्त होता है] विद्वान् लोक मथ करके प्रकट कर लेते हैं ऐसे ही निज स्वरूप अर्थात् आत्मस्थ अप्रकट जगदीश्वर को ज्ञान और क्रिया रूप दो मन्थनियों वा अरणियों द्वारा योगाभ्यास करके प्रत्यक्षतया साक्षात् प्राप्त करो। (देखो प्रमाण संख्या १०६) (ऋ० ३।६।५)

१८३—"अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां

८ १० ९ ११ १२ १३ १४ १५
ऋषि रस्मि विप्रः अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे ह
१६ १८ १७ २१ १९ २०
कविरुशना पश्यता मा (ऋ० ४।२६।१)

भाषार्थः—हे मनुष्य जीवो ! मैं सर्व व्यापक जगत्कर्त्ता सर्व भाषा वक्ता अवबोधक प्रकाशक, व्यक्त वा प्रत्यक्ष बोलने वाला जगदीश्वर पूर्ण विवेकी और सकल जीवों के लिये ज्ञेय एवं अज्ञेय विद्याओं का जानने वाला और सब सूर्यों का प्रकाशक सूर्यवत् स्वतः प्रत्यक्ष सर्व प्रत्यक्ष कर्त्ता हूं। और मैं समग्र सृष्टि की कक्षाओं (परम्पराओं) वा सीमाओं से युक्त सर्व सीमाओं की सीमा, वेद मन्त्र एवं अर्थों का नित्य एक रस जानने वाला देखो "यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचा साम यजुर्मही। एकर्षिर्यस्मिन्नर्पिता···" (अथ० १०।७।१४) मेधा स्वरूप मेधा दाता सर्व पदार्थों का जानने हारा हूं। मैं वक्ता ईश्वर दुष्ट घृणित वा टेढ़े स्वभाव, वस्तु एवं जनको, सुष्ठ, प्रिय वा सरल होने योग्य तथा नितरां उत्तम सिद्ध करता हूं। और मैं निराकार परमात्मा सब के हित की शिक्षा करता हुआ सर्व विद्याओं (विज्ञानों) का आदि वक्ता (कवि) हूं। तुम सब योगाभ्यास करते हुए आत्म दर्शन शक्ति से अपने अन्तर मुझे देखो ॥ (ऋ० ४।२६।१)

भावार्थः—अह., (व्याप्तौ, करने, भाषणे, सम्बोधने, ज्ञाने, प्रकाशे, व्यक्तौ करने आह्वानादिषु) के धातु अर्थ व्यापक होना, रचना, बोलना, जानना, समझाना, प्रकट-प्रसिद्ध वा प्रकाशित करना, बुलाना आदि हैं जिनसे अहं पद बना है। चारों वेदों के

अतिरिक्त सर्व परमाणुओं एवं जीवों की संख्या का ज्ञान परमात्मा को ही रहता है। वह यह जानता है कि इतने जीव बन्धन में हैं और इतने मुक्त हैं क्योंकि वह सब जीव मात्र का राजाधिराज है। मनुष्य भी तो अपने राज्य के मनुष्य और पशुओं की गणना कर लेता है। और सब लौकिक बद्ध मुक्तों को जानता है। परमेश्वर प्रत्येक कर्म और उसके फल को भी जानता है (देखो प्र० १०) (संख्याता अस्य निमिषो=पलक-मारना) तथा कितने कितने परमाणुओं से कौन कौन पदार्थ बनता है इत्यादि यह ज्ञान जीवों से सम्बन्ध न रखने से उनके लिये अज्ञेय है।

जैसे सूर्य के लिये अन्य दर्शक वा दीपकादि दिखाने को नहीं चाहिये एवमेव सूर्यों के सूर्य जगदीश्वर के लिये अन्य प्रकाश वर्ज्य (अनावश्यक) है परमेश्वर अनन्त होने से सब का प्रतिमान (नापने वाला) वह ही है उसका कुछ वा कोई नहीं। सर्वाधार और नित्य एक समान जागृत रहने से वह सब कुछ यथार्थ एक रस जानता रहता है और इसी कारण (मेधा) धारणा स्वरूप है। धार्मिकों का सहयोगी, और अधार्मिकों को उदासीन अबलात् उपदेशक रूप वर्जने हारा है। सर्व विद्याओं और विज्ञानों के मूल वेद और उनका उपदेशक जगदीश्वर है। अतएव वह ही आदि कवि है (देखो "ब्रह्म देवानां पदवी कवि (१८४) नाँ ऋषि र्विप्राणाँ·····"(ऋ० ६।६६।६)

इस मन्त्र में परमेश्वर ने अपने को सर्व ज्ञानों का अधिकरण

एवं अनेक प्रकार अपना बोध कराके अपने दर्शनों की जो आज्ञा दी है। उसका प्रयोजन यह है कि जीवों के जानने की सब ही विद्यायें ओ३म् से ही निर्भ्रान्ततया प्राप्त हो सकती हैं, अन्य से नहीं, और यथार्थ ज्ञान दर्शन से ही हो सकता है॥ (यह ही अभिप्राय प्रमाण सं० २३ "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्……" में विशेषतया दिखाया है वहाँ देखिये ॥ (ऋ० ४।२६।१)

(१८५) "अभिप्रिया दिवस्पदमध्वर्यो भिर्गुहा-हितम् । सूरःपश्यति चक्षसा ॥ (ऋ० ८।१०।८)

भाषार्थ-(सरति अर्थात् ज्ञानेन दर्शन क्रियया वा सर्व जानति व्याप्नोतीति सूरः) सर्व पदार्थों को जानकर आत्म दर्शन शक्ति से प्रत्यक्ष (स्पष्ट निश्चित) करने वाला उस सब विवेकी आत्माओं के अत्यन्त कमनीय जगदीश्वर को जिसको अचल असंप्रज्ञात निर्बीज समाधिष्ट आत्मा सर्वोपरि ब्रह्म रन्ध्र नामक अष्टमी भूमिका रूपी विद्युत्चक्र में प्रत्यक्ष करते हैं और जो द्युलोक, (मोक्ष धाम) का अधिकरण एवं अध्यक्ष है आत्म दृष्टि से (अकरण) प्रत्यक्ष करते हैं ॥ (ऋ० ६।१०।६)

भावार्थः=नाभि, हृदय, कण्ठ, चिबुक (ठोड़ी)) जिह्वाग्र, नासिकाग्र, त्रिवेणी (भ्रू मध्य) और ब्रह्मरन्ध्र (चोटी के नीचे का स्थान) ये आठ बिजली के चक्र मनुष्य देह में हैं। जिनमें से

अन्तिम में ईश्वर का सर्वथा स्पष्ट (प्रत्यक्ष) दर्शन होता है यह अटल समाधि में योगी आत्मा निश्चित करते हैं। वह जगदीश्वर प्रकाश स्वरूप मोक्षाश्रम का भी नियामक है ॥ (ऋ० ६। १०।६)

(१८६) "तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक्पश्येम सूर्यम् । अथानो वस्यसस्कृधि ॥ (ऋ० ८।४।६)

भाषार्थः—हे स्वतः प्रत्यक्ष प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! आप के प्रेरणा रूपी कर्म योग और आत्म स्वरूप प्रत्यक्ष कर देने रूपी परम सहाय से हम (योगी आत्मा) निरन्तर (सदैव) आप के सर्व प्रकाश स्वरूप को साक्षात् आत्म दृष्टि से देखें और इससे हमारा कल्याण करिये ॥ (ऋ० ६।४।६)

भावार्थः—यहाँ सूर्य को उदाहरण (उपमालङ्कार) की दृष्टि से परमेश्वर ने मन्त्र में प्रविष्ट किया है। जिस प्रकार नेत्र ज्योति युत प्राणी (जीव) सूर्य लोक को नेत्र से देखते हैं, एवमेव अपितु उससे स्पष्टतम उपासकों को आत्म दर्शन शक्ति से सूर्यों के सूर्य (देखो 'यतःसूर्य उदेति=जो सूर्य को रचकर प्रकाशित करता है (ऋ० १०।८।१६)

(१८७) जगदीश्वर को देखना चाहिये क्योंकि नेत्रापेक्ष आत्म दर्शन शक्ति असंख्यगुणी विशिष्टा और सूर्य लोक से जगदीश्वर अत्यन्त अधिक प्रकाश वारा प्रत्युत सूर्य लोक परमेश्वर स्वरूप

के समक्ष तम (अन्धकार) सदृश है। ऋषिलोक (१८८) उपदेश करते हैं।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः । तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक ४२)

अर्थात् उस अनन्त प्रकाश स्वरूप जगदीश्वर के समक्ष स्वयूत सूर्य सामर्थ्य सम न सूर्य न चन्द्र, तारे चमकते हैं, न ये विज्वलियां प्रकाशमान दिखाई देती हैं, भौतिक अग्नि पदार्थ की तो गिनती ही क्या। वह ही प्रकाशकों का आदि प्रकाशक है उसी के प्रकाश से सब प्रकाशमान हो रहे हैं॥

[१८८] "अजोऽस्यज स्वर्गोसि त्वयालोकमङ्गिरसः प्राजानत्। तं लोकंपुरायम्प्रज्ञेषम्॥ (अथ० ८।५।१६)

भाषार्थः—हे अजन्मे जीवात्मन्! तू गति शील है तू सुखेच्छु एवं सुख प्राप्त करने वाला है। त्वादृश ब्रह्मज्ञानी आत्माओं से देखने योग्य परमेश्वर प्रत्यक्षतया जाना जाता है। उस अत्यन्त पवित्र दर्शनीय परमात्मा को मैं प्रत्यक्ष करके जानूं॥ (अथ० ६।५।१६)

भावार्थः—यहां स्पष्ट सीधे शब्दों में जीवात्मा को साक्षात् देखने योग्य (लोकवाच्य) जगदीश्वर का दर्शक ईश्वर ने घोषित किया है॥ (अथ० ६।५।१६)

[१८७] "स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्। स्कम्भ त्व वेद प्रत्यक्षामन्द्रे सर्वं समाहितम्॥ [अथ० १०।७।२८]

भाषार्थः—हे सर्वोत्पादक सर्वाधार परमेश्वर आप में सर्व लोक एवं उन पर के देखे और देखने जाने वाले पदार्थ हैं सर्वाध्यक्ष एवं वशी (देखो "मिषतो वशी..."(ऋ० १०।१६०।१) अर्थात् सब को अपने आधीन रखने हारे सर्वेश्वर आप में प्रकाश, दाह कष्ट प्रदान, सन्ताप, सहन, एवं निष्पक्ष न्याय आदि करने की शक्तियां हैं ज्ञान स्वरूप ज्ञानाधिकरण ओ३म् आप में सर्व सत्य विद्यायें स्थापित हैं। [संक्षेपतः] हे जगदाधार परम ऐश्वर्यवन् प्रभू आप में सर्व जगत् एवं जगत् एवं मोक्ष सम्बन्धी सर्व ज्ञानादि शक्तियां पारस्परिक सम्बन्ध एवं अटल नियम के सङ्ग नित्य सुरक्षित हैं। हे जगदुत्पादक, धारक नियामक सर्व सम्राजों के सम्राट् मैं दर्शनाभ्यासी मुमुक्षु आप को प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात् आत्म दर्शन शक्ति से नितरां विस्पष्ट एवं नितान्त निर्भ्रान्त रूप से देखे जाने योग्य निश्चय से जानता हूं॥ (अथ० १०।७।२६)

भावार्थः—परमेश्वर सब जगत् का कर्त्ता धर्त्ता संहर्त्ता, सर्वज्ञ, सब को यथा कर्म दुःख सुख, आदि देने वाला और सबको पूर्ण न्याय दण्डादि से सुशिक्षित बना अपने अधिकार में रखने वाला है। वह सब पदार्थों में व्यापक है। इस लिये सब पदार्थ उसके प्रति अक्ष्य हैं और वह सब के प्रति अक्षा वा प्रत्यक्ष है, (देखो 'अक्षू, व्याप्तौ) जब वेद में निरभ्र सूर्य सदृश खुला शब्द "प्रत्यक्ष,, सर्वाधार, सर्वज्ञ जगदीश्वर के लिये स्वयं परमेश्वर ने प्रयुक्त किया है तो फिर 'ओ३म्' प्रत्यक्ष,, विषयक सन्देह लव त्रिलोक के यथार्थ विद्वान् एवं प्रधीवर आत्माओं में कैसे जीवित रह सकता है। कदापि नहीं ॥ (अथ० १०।७।२६)

[१८१] "उदु त्यद्दृशत वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे।
यदीमाशुवहात देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे
अरम् ॥ [ऋ० ७।६६।१४]

भाषार्थः—यह निर्भ्रान्त निश्चित सिद्धान्त है कि यतः वह सर्वोत्तम प्रकाश युत अमृत पुरुष दर्शनीय स्वरूप प्रकाश स्वरूप आत्मा के अन्तर एवं प्रकाशित ब्रह्मरन्ध्र के अन्तर अत्यन्त विस्पष्टतया प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उस स्वतः प्रत्यक्ष संसार के स्वामी को सपूर्ण द्रष्टा जीवात्माओं के लिये उनकी क्रियात्मक शक्तियाँ शीघ्र समर्थ होकर प्राप्त कराती हैं ॥ (ऋ० ७।६६।१४)

भावार्थः—परमेश्वर अमृत और दर्शनीय स्वरूप है। उसका स्वरूप सर्वोत्तम प्रकाश युत ("ज्योतिरुत्तमम्" ऋ० १।५०।१०) होने से सर्व दर्शन विषयक भ्रान्तियों से उत्कृष्ट और ऊपर होता हुआ सर्वतः सर्वथा सर्वदा आत्मचक्षु (दर्शन शक्ति) से देखने योग्य है। इसमें कदापि प्रधीवर आत्मा सन्देह नहीं कर सकते। प्रथम ही प्रथम सहसा आत्मा के अन्तर द्रष्ट होता है। पुनः कुछ काल प्रेक्षण के पश्चात् ब्रह्म रन्ध्र नामक गुहा में देखा जाता है तदनु सर्वत्र ऐसे ही जैसे सूर्य दर्शनान्तर सर्वत्र सूर्य दिखाई देता है। उपासक, परमात्म दर्शनाभिलाषी आत्माओं को चाहिये कि अन्तः करणों की वृत्तियां बाहर से रोकते हुए संयमी बनें और परमात्मा से दर्शन की प्रार्थना सर्व आत्म-शक्तियों से युगपत् सामूहिक रूप से करें ऐसा करने से सबको देखने और सब से देखे जाने वाला परमेश्वर, प्रकाश स्वरूप दर्शक आत्माओं को शीघ्र प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ (ऋ० ७।६६। १४)

(१८२)---येा विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षमपरूषि यस्य
सम्भरा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ (अथ० ८।६(१)।१)

भाषार्थः—विरक्त संयमी योगी आत्मा उस प्रकाश स्वरूप स्वतः प्रकाश जगदीश्वर को दर्शनीय साक्षात् आत्म प्रत्यक्ष निश्चय से जानें [अन्यों को भी ज्ञात करावें] जिस सर्वाधार

प्रकाश स्वरूप सर्वाध्यक्ष ओ३म् के पालन पोषण आदि सामर्थ्य समुचित रूप से रक्षण धारण और प्रापन कराने वाले और जिस प्रसिद्ध वक्ता के स्तुति योग्य वेद मन्त्र सर्व जीवात्माओं के लिये संसार सुख और मोक्षानन्द साधन भूत उपदेश और शिक्षायें हैं (अ०१।६(१)१) ॥

भावार्थः—"यः" पद (य वैरागे; योगे, दीप्तौ, प्रसिद्धौ, गंतौ धारणे, संयमनेषु) से बनता है। इस मन्त्र में पुनः ब्रह्म (ब्रह दीप्ति) पदार्थ को "प्रत्यक्ष" करने का साक्षात् स्वयं ब्रह्म वाच्य ने किया है। अतएव परमेश्वर के प्रत्यक्ष जानने, मानने, समझने एवं समझाने आदि के लिये अब कोई यत्न शेष नही रहा। सर्वथा अत्यन्त विस्पष्ट हो गया कि जीवात्मा नित्य दर्शन शक्ति युत है और परमात्मा साक्षात् देखने योग्य है ॥ (अथ०१।६(१)१)

अब विस्तार को पाठकों के लिये कष्ट प्रद विचारते हुए विशेष प्रमाण प्रवेश से निवृत्त होते हैं।

(वि०१८१) प्रियवर महाशयो ! जब कि प्रमाण संख्या १, ११, १८, १६, २१, २४, २५, ३०, ३१, ४२, १५६, १५७, १५८, १६०, १६१, ६४, १६५, १६६, में जीवात्मा का साक्षात् अकरण (स्वतन्त्र) कर्त्ता होना निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष (प्रदर्शित) कर दिया है और मोटी दृष्टि वालों को भी विस्पष्ट दिखा दिया है। और प्र० सं० (८) में आत्मा द्रष्टा एवं दृश्य उद्घोषित किया है, तथा प्रमाण सं० २२, में "आत्मनात्मानमभिसंविवेश" १६७, १६८,

१६९, १७०, १७१, १७२, १७३ में 'भवत्यात्मना' और १७४, में विभ्रदात्मना, पदों से आत्मा को अकरण ओ३म् का द्रष्टा एवं प्रापक (प्राप्त करने वाला) सिद्ध किया है एवमेव प्रमाण संख्या १, २, ४, ६, ९, १४, १५, १६, २४, २५, २६, १४६, १५० १५२, १५३, ५५, १५७, १७५, १७६, में क्रमशः जीवार्थ प्रयुक्त पदों "सूर्य" 'अग्नि-ज्योति, 'नृचित्, विद्युत्सम, दृश्यते, अग्नि, पश्यन्तः, 'सूर्य, 'सूर्य' अंशु, 'देव, 'अग्निः, अग्निः, 'द्रष्टा' 'चक्षु=द्रष्टा" 'चक्षु, चक्षु, 'पश्यन्ति, देव—अग्नि, नृचक्षसा, "द्रष्टुः स्वरूपे उपासक द्रष्टा के स्वरूप में के अर्थों से यह विषय "कि जीवात्मा बिना साधानों (इन्द्रियादि करणों के, करणतः दृष्ट सर्व जड़ पदार्थों की अपेक्षा असंख्य गुण विशेष विस्पष्ट जगदीश्वर के स्वरूप को प्रत्यक्ष करता। (देखता) है" ऐसा ही निर्भ्रम रूप से विद्वानों प्रधीवरों को प्रदर्शित हो रहा है जैसा कि सूर्य लोक, अतएव जब भ्रान्ति की छाया स्वप्न में भी स्तम्भ पुरुष, न्याय से विद्या चक्षु, को दृष्टि गोचर नहीं हो सकती। मास्तु ॥

(वि०१८२) पुनः ब्रह्म वदिष्यामिः—प्रमाण संख्या ५, १०, १४, २२, २६, ६०; ६३, ६५, ६७, १०६, १०६, १११, ११४, ११५, ११६, १२१, १२३; १२८, १३१, १३६, १४०, १४१, में क्रम, से "ओ३म्' को अकरण प्राप्य (पाने योग्य), दर्शक (देखने एवं दिखाने वाला), सूर्य इव दर्शनीय, प्रत्यक्षता से प्रवेश करने योग्य, ज्योति स्वरूप प्रत्यक्ष होने वाला, दर्शति होने हारा, प्रकाश

स्वरूप तथा दर्शनीय, दर्शक दृश्य, प्रत्यक्ष दर्शन देने वाला, दर्शनीय देखाजाने वाला, प्रकाश स्वरूप देखने, दिखाने हारा; देखा जाने वाला, प्रत्यक्ष होने हारा, प्रत्यक्ष किया जाने वाला, अग्नि वत् दर्शक दर्शनीय दृश्य, प्रत्यक्ष प्राप्य, सूर्य सम प्रत्यक्ष, साक्षी, देखा जाने वाला, ईश्वर ने उपदिष्ट किया है, उपर्युक्त प्रत्येक पद के संग प्रथमोक्त पद "अकरण" पढ़ना चाहिये अर्थात् ईश्वर स्वयं भी करण रहित देवता है और नित्य नितान्त करणों के बिना ही देखा जाता है।

(वि०१८३) प्रमाण सं० १४७ और १४८ में करणतः दर्शन होने का निषेध उपदिष्ट है। और प्र० सं० १८५ में आत्म दर्शन शक्ति से प्रत्यक्ष होने वाला, प्रतिपादित है।

प्रमाण सं० १४$\frac{६}{७}$, १४$\frac{६}{८}$, १७८, १७८, १७६, १८० १८१, १८२, १८३, १८४, १८६, १८६, १६०, १६१, १६२, में क्रमतः ईश्वरापदिष्ट पदों, चक्षु (द्रष्टा, दर्शक दृश्य, चक्षु (द्रष्टादि), 'सूर्यदृशे रोचमानः, "उद्वेति विश्वचक्षा, चक्षु, तमहन (अन्धकार नाशक), उद्वेति (प्रत्यक्ष्यते=प्रत्यक्ष होता है), 'पश्यति=देखता है, रारन्धि=पुनः पुनः रमन कर क्रीड़ा कर (यहां जिस प्रकार रमन करना दर्शाया उस प्रकार (उन उदाहरणों) से नितरां विस्पष्टता से दर्शन होना प्रत्यक्ष है 'मथनेन अग्निइव=योगभ्यास करने से अग्नि मथ कर प्रत्यक्ष प्राप्त होने की भान्ति साक्षात् प्रत्यक्ष हो जाता है॥ ऋषि=(द्रष्टा दर्शक) पश्यत माम्=हे जीवो! तुम मुझे देखो, ऋषिः=द्रष्टा दर्शक दर्शनीय, सूर्यस्पश्येम=सूर्य

समान दे दीप्यमान ओ३म् को हम योगी आत्मा देखें, 'लोक लोक=(लोक दर्शने—देखने, देखे जाने वाला) "प्रत्यक्षम्" "दर्शतंवपुः" = "दर्शनीय स्वरूप वाला" प्रत्यक्षम्" प्रत्यक्ष होने अर्थात् जीवात्माओं से साक्षात् (अकरण) देखा जाने वाला ओ३म् ॥ प्र० सं० १८७ १८८ के पदों 'यतः सूर्यो उदेति, "नतत्र सूर्यो भाति" आदि से सिद्ध है कि ओ३म् का प्रकाश सूर्य से अपरिमित गुण बहुतर है॥

विवेकी महानुभावो! जब जीवात्मा सूर्य सम प्रकाश स्वरूप और अकरण ओ३म् के द्रष्टा हैं, पुनः जब जीवों को आत्म दर्शन शक्ति नेत्रावेक्ष असंख्य वार विशेष है, और दर्शनीय पदार्थ ओ३म् सूर्य के प्रति अनन्त और असंख्य मान अधिक प्रकाशमान है, तब बुद्धि प्रत्यक्ष करने (पूर्ण ध्यान से निश्चित करने बुद्धि द्वारा आत्म दर्शन शक्ति से देख कर जानने) योग्य बात है कि जीवात्मा स्वयं देखते हुए परमात्मा को कितने प्रकाशित रूप से प्रत्यक्ष कर सकते करते और करते रहे हैं।

(वि० १८४) एवं जीवात्मा द्रष्टा और ओ३म् दर्शनीय तथा दृश्य और स्वतः प्रत्यक्ष प्रकाशित अपितु 'नेत्र सूर्य न्यायेन, 'नेत्रसे सूर्य देखने की न्यायो आत्म चक्षु के समक्ष रख देने के अनन्तर अन्तर्यामी प्रभु से प्रोत्साहित किया हुआ मैं (कारावासो) अल्पज्ञ जीव उस परम पिता को साक्षी एवं परम सहाय से इस पत्र पर यह शब्द स्थापित करता हूं कि "साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष केवल

एक ओ३म् है अन्य सब कुछ असाक्षात् परतः (परमेश्वरतः) प्रत्यक्ष है ॥

महाशयों ! यथार्थ ज्ञानी आत्म दर्शि योगी महात्माओं के लिये तो एवं प्रविष्ट तथा उपरि प्रस्थापित व्याख्यान के प्रख्यापित करने की आकांक्षा ही क्या हो सकती है । जिज्ञासु उपासक वा आत्मदिदृक्षु आत्माओं की सहायता वा उत्साहार्थ अवर्जनीयता है, और उनके हित साधनार्थ साधन सिद्ध होकर उनको अभीष्ट साधक बनायेगा, इत्याशासमहे (यह हम आशा करते हैं) अर्थात् वे निश्चय रूप से जान लेंगे कि वस्तुतः केवल एक ओ३म् वाच्य हि साक्षात् स्वतः प्रत्यक्ष है, अन्य सब ईश्वर कृपा से इन्द्रियादि करणों के द्वारा देखा जाता है ।

परन्तु उनसे परमावश्यक उन जीवात्माओं के उपकारार्थ आवश्यकता है कि जो न योगी आत्म परमात्म दर्शनाभ्यासी हैं और नहीं ध्यानी आत्मदिदृक्षु (आत्मा को देखने की इच्छा करने वाले) वा जिज्ञासु हैं । प्रत्युत दोनों प्रकार के लोकों से भिन्न अविद्या ग्रस्त, आत्मानभिज्ञ और अपने को जड़ मानने हारे सूक्ष्म वस्तु मन बुद्धि प्राण वा स्थूल भौतिक शरीर को स्वस्वरूप जानने और मानने वाले, इस देह के नाश से अपना नाश निश्चित करने वाले तथा अपने को १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, आदि वर्षों का बना हुआ पदार्थ जताने, बताने वाले और अपने को दुबले, मोटे छोटे बड़े काले गोरे आदि कहने वाले हैं ।

उनके हितार्थ उपर्युक्त सेवा पर्याप्त न होगी । अतएव निग-

मन स्थानी लेख सार रूप से आत्म परमात्म स्वरूप को शब्दों में प्रकाशित करते (शब्द प्रकाश में लाते) हुए ओ३म् पदार्थ का प्रतिज्ञात पारोक्ष्य आत्म दृष्टि रूप दर्पण के समक्ष धरते हैं:—

देखिये ध्यान दीजिये, अर्थात् सब ओर से दशों कर्म ज्ञान इंद्रियों और मन अहङ्कार चित्त एवं बुद्धि चारों अन्तःकरणों को रोक (स्थिर) वा निरुद्ध करके अन्तःकरणों को हमारे अर्पण कीजिये एवं हमारे एक एक शब्द को दत्त चित्त होकर ग्रहण करिये । विषय गम्भीर है वास्तविक परमात्म स्वरूप वक्ता की मूक दृष्टि में आता है । वाणी में नहीं, "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह अर्थात् जिसको मन और वाणी न प्राप्त कर लौट आती हैं । जिस प्रकार स्वादों का वर्णन होता है एवमेव कथन किया जा सकता है:—

(वि०सं०१८५) आपने देखा जितने जड़ (अचेतन=ज्ञान हीन) पदार्थ हैं । तीनों कालों में कभी कुछ भी नहीं जान सकते जो दशा एक इष्टिका (ईंट वा ईंटा) की है वह ही देह की जीवात्मा के निकल जाने पर होती है । सब परिवार (कुटुम्ब) पुकारता (बुलाता) है, मृतक बोलता ही नहीं, आंख खुली है देखता ही नहीं । पत्थर की मूर्त्ति बन गया है ।

बाप (पिता) कहता है "बेटा ! सूर्य भान ! बोलो" सूर्य भान चुप है । लोक समझाते हैं "अरे भाई ! क्यों सिरी होते हो, सूर्य भान (वक्ता) कहां है, यह तो शव पड़ा है । बोलने वाला चला गया ।"

(वि०१८६) बहुतेरे जन निरन्तर सर्व व्यापक सर्वज्ञ धर्म स्वरूप को बोलता, मानते है *। उनसे पूछिये आप सर्व व्यापक पद के अर्थ जानते हो। उत्तर होगा 'नहीं' बताइये कि इसी कारण आपने जगदीश्वर सत्य स्वरूप को असत्य का वक्ता, और धर्म स्वरूप सर्वोत्तम धर्म शिक्षक को धर्माधर्म का कर्त्ता और नित्य मुक्त आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द को कारणादि तीन शरीरों में बद्ध, क्षुधा पिपासा नाना रोगों से पीड़ित तथा त्रि दुःखों का भोक्ता आदि कहा और माना है। यह भी शरीर को चेतन जानने की भान्ति कोरा भ्रम है, नश्यतु।

जिस प्रकार स्थूल शरीर किसी भी क्रिया का कर्त्ता नहीं, ऐसे ही आकाशादि पाँचों स्थूल भूत (जिनसे यह स्थूल देह बना है) प्रत्यक्ष जड हैं।

---

*अङ्ग शरीर को चेतन मानने वाले अथवा केवल पांच स्थूल भूत वादी चार्वाकादि मतों के अनुयायियों को आवागमन का विश्वास नहीं। यदि सुसंस्कार वश हुआ भी. तो मनुष्य का पुनर्जन्म मनुष्य में ही मानते हैं और पशु आदि का पशु आदि में, जैसे आम के बीज से आम और पीपल के बीज से पीपल, आदि आदि, शरीर के भस्म होने पर इनको बीजनाश का बोध नहीं होता। ये शरीर अभिमान के कारण बड़े से बड़े पापों के कर्त्ता बनते हैं।

'अहं' ब्रह्म, मानी भी जगत् को मिथ्या मानते हुए सामन्यतया त्रि दुःखों से बचते हुए सर्व सांसारिक ऐश्वर्यों को विविध पापों के मूल्य से मोल लेकर भोगने का यत्न करते हैं, यहां तक कि मिथ्या संन्यास करके

(वि०१८७) कई मनुष्य नामधारी प्राण वायु को [illegible] मानते हैं और कई प्राणी उसी को आत्मा निश्चित किये हुए हैं। उन्हें समझा दीजिये कि यदि प्राण बोलता वा वह ही जीव होता तो सोते समय पुकारने (आह्वान करने) पर कह देता 'हां', तथा और भी सब वार्तालाप कर लेता। सोने वाले आत्मा को जागने न पड़ता। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे एवं श्वांस योग

गृहस्थाश्रम के भोग रूपी घोर पाप करते हुए वाम मार्ग के मुर्झाते वृक्ष को हरा भरा करके पशु आदि योनियों के लिये सज्ज हो रहे है।

इस सिद्धान्त के अनुयायी चेतन पदार्थ से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। जगत् पद का अर्थ "गच्छति यत्तज्जगत्, (जो चले उसको जगत् कहते हैं) वा जड़ चेतन मिले हुये क्रियावान् पदार्थ को जगत् कहते हैं" यह भी नहीं जानते, ये ब्रह्म को निरवयव (देखो "अंश इव अंशो न निरवयवस्य—पृ० २९७ ब्रह्म सूत्र शाङ्कर भाष्य) निर्विकारी मानते हुए भी इसका विकार जगत्, अभिन्न निमित्त उपादान, मानते हैं और फिर मुक्त होने पर 'नाशः कारणलयः' (कार्य जगत् कारण में मिल जाने को भान्ति) बद्ध जीवों का ब्रह्म में मिल जाना ऊरी करते हैं। वस्तुतः ये लोग केवल जड़ ब्रह्म प्रकृति अभिमानी हैं। (ब्रह्म, के अर्थ प्रमा० ५७ से ८० देखिये और "मम योनि महद् ब्रह्म ....." गीता में देखें), यह प्रतिज्ञा [illegible] पृ० २०१ "तदेवमविद्यात्मको पाधि परिच्छोपेक्षमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च न पर मार्थतः (अविद्या उपाधि के कारण जगत् के कारण से भिन्न हुआ ब्रह्म अपने का ईश्वर, 'सर्वज्ञ, और सर्वशक्तिमान्' मान रहा है परमार्थ में वस्तुतः, ऐसा नहीं है) से सर्वथा विरुद्ध [illegible]

से लेने; और उच्च स्वर से घड़ घड़ाहट करने पर जब कोई प्राण को बुरा कहता है तब भी न बोलने से प्राण का सर्वथा ज्ञान रहित (जड़) होना निर्भ्रान्त सिद्ध है।

(वि०१८८) एवमेव जिन पाँच सूक्ष्म भूतों (शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध) से ५ स्थूल भूत बने हैं; वे भी जड़ हैं क्योंकि जब कोई कहता है कि यह 'गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द अच्छा नहीं, तब वे नही उत्तर में पूंछते "हम क्यो अच्छे नहीं ?" इसी भांति दशों इन्द्रियों में से किसी को जब कोई बुरा कहता है तब इन्द्रियां नही कहती "हम में वा मुझ में यह दोष नहीं, किन्तु कोई अन्य (जीवात्मा) कहता "मेरी आंख तो नहीं फूट गई वा मेरी और कोइ इन्द्रिय दूषित नहीं है" इस से इन्द्रियों का जड़ होना सिद्ध है।

तथैव चारों अन्त. दूषित ठहराए जाने पर जड़ सिद्ध होते है।

सार यह है कि स्थूल देह को पहले कार्यालय सिद्ध कर चुके हैं और सूक्ष्म शरीर के २४ अङ्गों (५ प्राण + ५ सूक्ष्म भूत + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + ४ अन्तःकरण) को साधन समुदाय (यन्त्र मैशीन जड़ पदार्थ केवल क्रियाओं के साधन करण कारक प्रत्यक्ष करा चुके हैं। कदापि कर्त्ता कारक नहीं हो सकते। कर्त्ता कारक केवल चेतन जीवात्मा है॥

(वि०१८९) जीवात्माओं का प्रकाश स्वरूप एवं स्वयं प्रकाशक अर्थात् स्वतन्त्र अकरण कर्त्ता और दर्शक द्रष्टा होना युक्तियों एवं

प्रमाणों के प्राचुर्य से अति प्रख्यात रूप से प्रकाशित किया तथा सन्देहातीत दर्शाया जा चुका है।

बालकों को दिखाइये और मृतक और जीवित का भेद समझाइये। कितना सुन्दर सजीव शरीर जीव रहित (शव) होगया हो तो कैसा भयानक होजाता है, यह भयानकता क्या है केवल अन्धकार जो प्रकाश स्वरूप जीव के निकल जाने से हो जाता है जैसे दीपक बुझने से गृह (घर) वा सूर्य छुप (छिप) जाने से देश अन्धेरा हो जाता है।

जगदीश्वर पदार्थ के सम्बन्ध में जीवापेक्ष उतनी ही विशेषता जाननी चाहिये जितना वैशेष्य वा भेद उनके (जीव ब्रह्म के) वस्तुत्व अर्थात् स्वरूपों में है।

(१६०) ऊपर प्रमाणितएवं प्रकाशित किया गया है कि जीवात्मा अत्यन्त छोटा (लघु) और छुटाई के कारण अनिश्चित परिमाण है। कोई उसे बाल की नोक का दश सहस्त्रवां भाग जैसा कल्पित करते हैं। वैसा हो अल्पज्ञ, अल्प यत्न, एक समय में अत्यन्त थोड़ा (अल्प) और सदा अधूरा जानने हारा, अल्पदेशी अल्पदर्शक और इसी से मुक्त बद्ध सुखी दुःखी विवेकी अविवेकी शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता आदि द्वन्द्व ग्रस्त रहता है। ये सब बातें प्रायः प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो रही हैं।

महाशयों ! बालकों को दिखाइये कि एक देही (जीव) के सुख दुःख का अनुभव दूसरे को नहीं होता, एक दूसरे के मन की बात नहीं जानता, एक देही मारता वा पीटता और

प्रसन्न होरहा है दूसरे देह वाला मारा वा पीटा जा रहा और चिल्लाता आदि है। ऐसे दृश्यों से प्रत्येक शरीर में भिन्न २ जीव होना सिद्ध हैं, फिर छोटे से छोटे कीटादि में होने से जीवों की अल्प स्वरूपता भी सिद्धा होती है। एवं अन्यत्

जीवों के विरुद्ध परमात्मा पदार्थ जैसा अत्यन्त महान् (बड़ा) और इस सब जगत् में अग्नि, वायु, आकाश वत् भीतर बाहर से अभिव्यापक रहता हुआ। इस सब जगत् समूह के सब ओर बाहर अनन्त रूप से ठहरा हुआ है, वैसा ही सर्वाधार सर्वज्ञ (अत्यन्त ज्ञानी) अर्थात् सर्व पदार्थों का सर्व कालों में नित्य पूरा और एकसा यथावत् एवं यथार्थ जानने हारा, सर्वदेशी सर्व समदर्शी आदि हैं, और इसी कारण स्वभाव से नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त-जागरूक-अनन्त ज्ञान क्रिया एवं बल युक्त और सदा द्वन्द्वातीत सच्चिदानन्द स्वरूप है।

जीवात्मा अणुस्वरूप (लघुतम) है उसका प्रकाश भी सूर्य खद्योत (पट बीजना) वत् ब्रह्मापेक्ष अत्यन्त तुच्छ है। परन्तु परमात्मा अत्यन्त महान् होने से उसका प्रकाश भी अत्यन्त वृहत् और सर्वोत्तम है। बालक उसको सन्ध्या पुस्तकों में "ज्योतिरुत्तमम्" पढ़ा करते हैं।

इस भान्ति पुनः परिमित स्वरूप और सीमित अत्यन्त अल्प प्रकाशयुत जीवात्मा स्वरूप तदपेक्ष अपरिमित स्वरूप अत्यन्त महत्प्रकाशवान् परमात्म स्वरूप को दर्शाते हुए उद्घोषित करते

हैं कि जीवात्मा और परमात्मा अल्प और सर्व दर्शी होते हुए परस्पर द्रष्टा दृश्य तथा दर्शक भी हैं।

जैसे दर्शक के अर्थ देखने और दिखाने वाला है। दिखाने वाला अन्य पदार्थों को प्रदर्शित करता हुआ आप गुप्त नहीं रह सकता किन्तु प्रत्यक्ष हो जाता है। उदाहरण के लिये किसी मनुष्यजीव, अग्नि पदार्थ वा सूर्य लोक को लीजिये। ये दर्शक वा दर्शन का साधन होते हुए भी नहीं छिप सकते,

ऐसे ही चेतन प्रकाश स्वरूप सर्व प्रकाशक, दर्शक दर्शनीय जगदीश्वर तिरोहित न रहता हुआ सर्व द्रष्टा भी है और स्वतः प्रत्यक्ष भी, क्योंकि अन्य पदार्थों को जहां जीवों को दिखाता है वहाँ प्रकाशस्वरूप एवं "दर्शतंवपुः" (दर्शनीय स्वरूप) होने से अपने को जीवों से अप्रकाशित नहीं रख सकता अर्थात् अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते समय स्व स्वरूप को तामस (काला वा अन्धेरा) नहीं बना सकता, यदि यह असम्भव कल्पनादुर्जन ताप न्याय से करें भी तो फिर अन्य पदार्थ अन्धेरे स्वरूप से अन्धेरे ही रखे जा सकेंगे प्रकाशित न हो सकेंगे।

(वि० १६१) सूर्य वत् जड़ प्रकाशक दृश्य तो हो सकते हैं दर्शक नहीं, चेतन प्रकाशक सूर्य सदृश दृश्य होता हुआ द्रष्टा भी होता है कदापि अद्रष्टा नहीं कहा जा सकता। या यों कहें कि सूर्य प्रकाश का साधन होने से दृश्य तो है दर्शक नहीं। तद्विपरीत, जीव ब्रह्म चेतन होने से प्रकाश के साधक होते हु

आर्ष वचन को बालकों के कारण स्वरूपिक परमात्म स्तुति की ओट बनाते हुए लेख को विराम देते हैं।

नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव 'प्रत्यक्षं ब्रह्मा' सि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वादिषं ऋतं वादिषं सत्यं वादिषं तन्मामावीत् तद्वक्तारमावीत् आवीन्मां आवीद्वक्तारम् ॥

॥ शमित्योऽम् ॥

श्रीमद् दयानन्द पुस्तकालय
क्रमांक 54
आर्य समाज, चन्दर

श्रीमद् दयानन्द पुस्तकालय
क्रमांक 54
आर्य समाज